प्रकाशक—

मानस मन्दिर जबलपुर।

१६३६

प्रथम संस्करण १०००

मूल्य १॥)

मुद्रक—

हितकारिणी प्रेस,

जबलपुर।

महान् पुरातत्ववेत्ता
स्वर्गीय- रा० ब० हीरालाल—

समर्पण

जो रा० ब० हीरालाल सा० अपने एकाग्र पुरातत्व
के अध्ययन तथा खोज के द्वारा इस
प्रान्त के अन्धकार में पड़े हुए
इतिहास को प्रकाश में लाये
उन्हीं की पवित्र स्मृति में
यह अल्प प्रयत्न
सादर समर्पित
है।

लेखक—

विषय सूची

आभार-प्रदर्शन

निर्गुणं व्यापकं नित्यं शिवं परमकारणम् ।
भावग्राह्यं परंज्योतिस्तस्मै सद्ब्रह्मणेनमः ॥ (कर्णदेव का ताम्रपत्र)

विघ्नौघसंतमस संतरणाय शक्तं
मुक्तं कलङ्ककलया शकलं सुधांशोः ।
कुन्दावदाततरदन्तमिषाद्दधानः
श्रेयः परं दिशतु वः सदयं द्विपास्यः ॥

रूपैरनेकैर्व्यवहारजातमातन्वती पातु सरस्वती वः ।
यल्लेशलालित्यवशादपि स्यात्संसत्सु पुंसाङ्गरिमा गरीयान ॥

(अल्हणदेवी का शिलालेख)

स्वर्गीय रा० ब० हीरालाल जी तथा रा० सा० पं० रघुवर-प्रसाद जी द्विवेदी के सत्संग से त्रिपुरी तथा गढ़ा के प्राचीन गौरव की कहानियाँ बचपन से सुनता आता था। उसके इतिहास में रुचि भी हो गई थी। त्रिपुरी काँग्रेस अधिवेशन के आगमन ने इस रुचि को लेखन में परिणत करने की इच्छा प्रबल कर दी। किंतु साधनों और सहायकों के अभाव में यह इच्छा मन में ही विलीन हो गई होती यदि श्री वीरभानु राय की कृपा से स्व० रा० ब० हीरालाल जी के अमूल्य पुस्तकालय की सहायता तथा श्री० विजयबहादुर श्रीवास्तव का क्रियात्मक सहयोग न मिला होता। दीर्घसूत्रता के कारण लेखन कार्य

जनवरी से पहिले प्रारंभ न हो सका। इसी समय कांग्रेसकार्य तथा असेम्बली सम्बधी बैठकों के कारण इस महान् कार्य के लिये जितने गूढ़ अध्ययन, गहनचिन्तन तथा विषयानुकूल लेखन की अपेक्षा थी वह परिमित शक्ति तथा समयाभाव के कारण न हो सका। इतने ही समय में नागपूर विश्व विद्यालय तथा रावर्टसन कालेज के पुस्तकालयों से भी सहायता ली गई। प्रोफेसर मिराशी जी ने भी अपने लेख द्वारा सहायता दी। शिलालेखों और ताम्रलेखों के मूल संस्कृत पाठों को शुद्ध पढ़ने और समझने में श्री गोविन्द शास्त्री की भी अमूल्य सहायता मिली।

समय कम होते हुए भी इसका ध्यान रक्खा गया है कि त्रिपुरी के साथ ही साथ संपूर्ण महाकोशल के इतिहास का दिग्दर्शन करा दिया जावे। इससे पुस्तक का आकार कुछ बढ़ गया है। अध्ययन, व लेखन ही नहीं किंतु पुस्तक की छपाई, चित्रण तथा उनकी ब्लाक बनवाई भी जल्दी में ही करनी पड़ी। तो भी शीघ्र छपाई के लिये मैं हितकारिणी प्रेस के मेनेजर श्री० बलीराम द्विवेदी, चित्रों के लिये श्री० राजेश्वरी-प्रसाद वर्मा, ब्लाक बनवाई तथा उनकी छपाई के लिये सिंगई प्रेस के प्रबन्धक श्री० अमृतलाल सिंघई, मुखपृष्ठ के रेखा चित्रण के लिये श्री श्यामाचरण राय कविताओं के लिये श्री० नर्मदाप्रसादजी खरे तथा नक्शे के लिये श्री पूरनलालजी का आभारी हूँ जिनकी सहायता के बिना यह कार्य अधूरा ही रह जाता।

समयाभाव के कारण मरहठों तथा अंग्रेजों का विवरण रह ही गया। पुस्तक में जो अन्य त्रुटियाँ रह गई हैं उनके लिये मेरा अनेक कार्यों में बँटा हुआ ध्यान, विषय का अल्प-ज्ञान तथा समय संकोच ही है। अध्ययन, लेखन तथा प्रूफ संशोधन प्रायः साथ ही साथ चलते रहे जिससे त्रुटियाँ न रहना ही आश्चर्य-जनक होता। आशा है पाठक इसे मेरे इतिहास-क्षेत्र में पदार्पण करने का प्रथम प्रयत्न मानकर क्षमा करेंगे। यदि इस पुस्तक से प्रान्त के इतिहास में आगे खोज करने की ओर प्रवृत्ति हुई तो मेरा यह अल्प श्रम सार्थक होगा।

महाशिवरात्रि
सं० १९९५.

ब्योहार राजेन्द्रसिंह।

प्राक् कथन ।

पूर्वी गोलार्द्ध के देशों में सभ्यता संस्कृति एवं इतिहास की प्राचीनता की दृष्टि से भारतवर्ष का बड़ा गौरवपूर्ण स्थान है। यहां का कोई स्थान ऐसा नहीं है, जिसका अपना महत्त्व-पूर्ण इतिहास न हो। यह सच है कि समय समय पर अन्य जातियों द्वारा आक्रान्त होने और भीतरी झगड़ों के कारण इस देश को बड़ी क्षति उठानी पड़ी है तथा इतिहास की कितनी ही अमूल्य सामग्री नष्ट हो गई है। फिर भी इतिहास की प्रचुर सामग्री यहां विद्यमान है जो आधुनिक शोध के फलस्वरूप क्रमशः प्रकाश में आती जाती है। प्राचीन स्थानों में खुदाई होने से कई नई ऐतिहासिक बातों का पता चला है और कितने ही अंधकाराच्छन्न कालों का सत्यवृत्त सुलभ हो गया है। बड़े हर्ष का विषय है कि हिन्दी लेखकों तथा पाठकों की रुचि भी अब इतिहास की तरफ बढ़ रही है और इस क्षेत्र में मौलिक तथा प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रकाशन होने लगा है। प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में एक सफल प्रयत्न है।

मध्यप्रदेश में जबलपुर के निकट तेवर नाम का एक छोटा सा गांव है। यही प्राचीन काल में वैभवशाली त्रिपुरी

नगरी थी। सुयोग्य लेखक ने "त्रिपुरी का इतिहास" में इस नगर तथा राज्य के उत्थान और पतन पर अच्छा प्रकाश डाला है और आधुनिक शोध को पूरा पूरा स्थान देकर पुस्तक की प्रमाणिकता तथा उपयोगिता निश्चित करदी है। पुस्तक के प्रारम्भिक अध्याय में इस स्थान का भौगोलिक वर्णन है। इसके बाद के अध्यायों में क्रमशः मौर्य, शुंग, कण्व, कुशान, गुप्त, हूण, कलचुरी (हैहय) आदि राजवंशों के समय में यहां की धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति कैसी रही तथा कला-कौशल आदि का कैसा विकाश हुआ इसका दिग्दर्शन कराया गया है। ई. स. की सोलहवीं शताब्दी में यहां गोंड़राज-वंश का प्रभुत्व बढ़ा। इसी वंश में प्रसिद्ध रानी दुर्गावती हुई जिनके अपूर्व उत्सर्ग की गाथा से भारतवर्ष का प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। पीछे से यह स्थान मरहठों के अधिकार में आया और उनसे इसे अंग्रेजों ने लिया।

प्राचीन त्रिपुरी का अब अस्तित्व नहीं है। केवल कुछ भग्नावशेष मात्र हैं जो उसके विगत वैभव की स्मृति दिलाते हैं। त्रिपुरी जैसे अनेक स्थान भारत वर्ष में हैं, जो किसी समय बड़े सम्पन्न और कला-कौशल में अद्वितीय थे पर आज उनका नामो निशान मिट सा गया है। ऐसे स्थानों की स्मृति चिरस्थायी बनाने के लिए उनका इतिहास लिखे जाने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से श्रीयुत ब्योहार राजेन्द्रसिंह जी

एम. एल. ए. द्वारा लिखित "त्रिपुरी का इतिहास" का बड़ा महत्त्व है। मैं चाहताहूं कि इसी शैली पर भारतवर्ष के अन्य प्राचीन स्थानों के छोटे छोटे इतिहास लिखे जायँ। ऐसी पुस्तकें इतिहास के लिये तो उपयोगी सिद्ध होंगी ही, साथ ही उनसे हिन्दी भाषा-भाषियों को ज्ञान-वृद्धि होगी और उन स्थानों का विगत गौरव भी प्रकाश में आवेगा।

ऐसी सुन्दर महत्वपूर्ण और उपयोगी पुस्तक लिखने के लिए लेखक महोदय विद्वानों के सम्मान के पात्र हैं।

अजमेर
फाल्गुन सुदी ६ सं. १९९५ } गौरीशंकर हीराचंद ओझा।

त्रिपुरी प्रशस्ति

जलज नाभ जय, जलज जय
जयति जलज-भव देव ।
अत्रि तासु सुत जयति नेहिं,
चन्द्र जात स्वयमेव ॥

आदि राजसुत जयति जय,
चन्द्र तनय बुधराज ।
गगनाभोग—तड़ाग के,
राजहंस विख्यात ॥

पुत्र पुरुरवा प्राप्त जेहि
भयो सप्त जलनाथ ।
जासु कलय वसुन्धरा
भई उर्वशी साथ ॥

हुए भरत सम पूर्व पुरुष, जिसने शत-शत हयमेध किये ।
निज कीर्ति खंभ सम दृढ़ विस्तृत, यमुना तट यूप निखात किये ॥१॥
थी सप्त जलधि रसना जिसकी, पृथ्वीपति परम प्रतापी थे ।
विश्वम्भर भरत नाम जिनका जो सकल, शत्रुगन तापी थे ॥२॥
हैहयवंशी सहस्रार्जुन की पुनरुक्त शस्त्र झंकार वही ।

निज पूर्व पुरुष शशि से केवल जिसने राजा सुउपाधि सही ॥३॥

कलचुरी वंश हिमशैल सदृश
जगतीपति वश की सकल दुनी।
मदगंध–अंध–नृप–करी मथन
केशरी सदृश युवराज गुनी ॥४॥

जो मुक्तामणि सम अमल वृत्त, नीतिज्ञ प्रीति पालक महान।
त्रिपुरासुर की त्रिपुरी जिसने, रचदी द्रुत अमरावति समान ॥५॥
वैठी सुधि करती वार वार, कोकल्लदेव सम धीर बीर।
जिनकी रण वाहिनि का प्रवाह, था रोके केवल सिन्धु तीर ॥६॥
मरकत मणि सम द्रढ़ वक्ष लिये, उन्नतललाट आजानु वाहु।
लक्ष्मीपति श्री गाङ्गेयदेव, निज शत्रु ग्रास हित प्रगट राहु ॥७॥
जिसने प्रयाग वट मूल निकट, की प्राप्त मुक्ति शतपत्नि युक्त।
अर्चना दिशाओं की जिसने, की चढ़ा शत्रु-गज-रत्न मुक्त ॥८॥
उसके सुत कर्णदेव नृप ने, रचि कर्ण–मेरु सम धवल धाम।
(जिसकी उन्नत ध्रुव-ध्वजा-वायु. देती सुर वाला को विराम)॥९॥
रचि कर्णावती जिसने भूपर, चिरश्रेयधाम विद्या निधान।
सब वेद शास्त्रयुत ब्रह्मलोक, पृथ्वी पर मानों मूर्तिमान ॥१०॥
जलनिधि लक्ष्मी सम हूणपुत्रि, आवल्लदेवि का परिणय कर।
उत्पन्न किया यश–कर्णदेव, मानो नव निष्कलंक शशधर ॥११॥
संवेदन सम यशकर्णदेव, इच्छा सम श्री अल्हण देवी।

उपजे प्रयत्न सम वीर तनय. नरसिंह देव सुर गुरु सेवी ॥१२॥
जयसिंह भ्रात जिसके विजयी, सौमित्रि राम सम प्रीतिवान ।
शौर्योज्वल सब भूपति जिनकी-सेवा रत करते कीर्तिगान ॥१३॥
गुर्जर तन जर्जर क्षीण तुरुक-भागे त्रासित हो नृपति शेष ।
भूले कुंतल निज काम-केलि, जब सुना विजय राज्याभिषेक ॥१४॥
इन्द्रप्रभा हिमहार गुच्छ को. निन्दित करती कीर्ति लता ।
चन्दन सम शीतल सँयोग में, हुई वियोगिनि दूर गता ॥१५॥
सिंहासन-मौलि-रत्न-मणि जो, विक्रमादित्य प्रख्यात नाम ।
निश्चल चित स्वर्गवाच्छनायुत, निज भुजबल जीता धरा धाम ॥१॥

(शिला और ताम्रलेखों के आधार पर)

प्रस्तावना
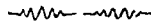
चेदि-कोशल का महत्व

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने लिखा है:—

"चेदि नाम शुरू शुरू में चम्बल और केन के बीच जमना के दक्खिन काँठे—का अर्थात् केवल उत्तरी बुन्देलखण्ड का था। महाभारत युद्ध से पहिले वसु चद्योपरिचर के समय न केवल उसके पड़ौस के कौशाम्बी (वत्सभूमि, प्रयाग के चौगिर्द का प्रदेश) और कारूष देश (बघेलखण्ड) चेदि के साथ एक ही राज्य में सम्मिलित थे, प्रत्युत् मगध और मत्स्य भी उसी राज्य में थे। बुद्ध के समय से ठीक पहले महाजनपद-काल में चेदि या चेति और वत्स की एक जोड़ी गिनी जाती थी। दूसरी शताब्दी ई० पू० में कलिंग का राजा खारबेल चेत या चेति (चेदि) वंश का था। मूल चेदि देश से कलिंग तक चेदि लोग कोशल या छत्तीसगढ़ के द्वारा ही फैले होगें; १४ वीं शताब्दी ई० में उत्कल (उड़िया) लिपि में लिखे गये एक प्राचीन ऐतिहासिक संस्कृत सन्दर्भ से स्पष्ट ही सूचित होता है कि खारवेल के पूर्वजों की राजधानी पहले कोशल में थी, और वहाँ से वे खण्डगिर (उड़ीसा में धोली) गये थे"।

"आधुनिक बुन्देलखण्ड का दक्खिना अंश उस में व से सम्मिलित हुआ है उसका कोई ऐतिहासिक निर्देश मुझे नहीं मिला; किन्तु बोली की एकता सिद्ध करती है कि चेदि लोग बहुत आरम्भिक काल में ही जमना-काँठे से दूर दक्खिन तक समूचे बुन्देलखण्ड में फैल गये थे। मध्यकाल में इस दक्खिनी बुन्देलखण्ड में जबलपुर के उत्तर तिवर या त्रिपुरी में एक हैहय राज्य था, जो चेदि कहलाता था। यदि यह दक्खिनी बुन्देलखण्ड शुरू से चेदि में सम्मिलित न भी रहा हो तो मध्यकाल में उसका चेदि नाम पड़ जाने का एक यह कारण हो सकता है कि त्रिपुरी के राज्य ने कालिंजर का किला और उसके साथ समूचा उत्तरी बुन्देलखंड, जो कि प्राचीन चेदि था, जीत लिया था। जो भी हो, उस समय से समूचे बुन्देलखण्ड का नाम चेदि है। उसी समय में इसके साथ लगा हुआ महा-कोशल या छत्तीसगढ़ का राज्य था जिसकी राजधानी मणिपुर थी। चेदि और कोशल दोनों राज्य हैहयों के थे, और दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। डा० स्टेन कोनौ तो महाकोशल राज्य को पूर्वी चेदि राज्य ही कहते हैं। इस प्रकार यदि प्राचीनकाल से नहीं तो मध्यकाल से चेदि और कोशल का एक होना निश्चित है।"

(भारत भूमि और उसके निवासी पृ० २०५-७)

"हैमनाममाला" में इसी चेदि देश को डाहल भी कहा गया है। * "त्रिकाण्ड कोष" नामक ग्रन्थ में भी डाहल और चेदि को पर्यायवाची माना है। † "विक्रमाङ्क देव चरित" में भी डाहलाधीश का उल्लेख आया है। ‡ पहिले श्लोक में चेदि देश वालों को "त्रैपुराः" कहने से यह भी प्रगट होता है कि त्रिपुरी इसकी प्रधान नगरी थी। "हैमनाममाला" में त्रिपुरी को चेदि की राजधानी कहा है। §

यही ऐतिहासिक नगरी हमारे इतिहास का मुख्य क्षेत्र है अतः इस पर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

प्रसिद्ध कवि राजशेखर इसी चेदि देश के भूषण थे। ||

---

* त्रैपुरास्तु डाहलाम्युश्चैद्यास्ते चेदयश्चने।
(है० ना० मा० ४-२२)

† डाहलाश्चेदयश्चैद्याः (त्रि० भूमिवर्गः)

‡ नीत्वा गंगाधरमधरतां डाहलाधीश धाम्नि।
(वि० च० १८-६५)

§ "त्रिपुरी चेदि राजधानी" (है० ना० मा० ४-४१)

|| राजशेखर ने अपने पूर्व पुरुष सुरानन्द को "चेदि मण्डल मण्डनं" कहा है। अतः इनका जन्म यहीं हुवा जान पड़ता है। इनका समय ईस्वी सन् ८८४ और ९५९ के बीच में माना जाता है।

त्रिपुरी के कलचुरि सम्राट् युवराज देव के दरबार में रह चुके हैं। * इन्होंने अपने दो नाटकों में त्रिपुरी का वर्णन किया है। बाल रामायण में वे त्रिपुरी की उत्पत्ति की कथा बतलाते हैं कि त्रिपुरासुर से अप्रसन्न होकर शिव ने उसके तीन नगरों को जला डाला। उनका कुछ भाग आकाश से गिर कर पृथ्वी पर आया और त्रिपुरी के नाम से प्रख्यात हुआ। यह नगर इतना प्राचीन बतलाया गया है कि यहां के राजा सीता के स्वयंवर में उनका वरण करने की इच्छा से जनकपुर गये थे। † माहिष्मती के राजा भी उनके साथ थे। माहिष्मती को कलचुरियों की कुल राजधानी कहा गया है। ‡

उनके दूसरे नाटक "विद्धशाल भंजिका" के मुख्य पात्र

---

* बाद में ये कान्यकुब्ज के राजा महेन्द्रपाल के दरबार में चले गये थे जैसाकि उनके दूसरे नाटकों से प्रगट होता है।

(कर्पूर मञ्जरी १-१५ तथा बालभारत १-७)

† सीता स्वयंवरनिदानधनुर्धरेण, दग्धात्पुरत्रितयतो विभुना भवेन।
खण्डं निपत्य भुवि या नगरी बभूव तामेव चैद्यतिलकस्त्रिपुरीं प्रशास्ति।

(बा० रा० ३-३८)

‡ माहिष्मतीं कलचुरेः कुलराजधानीम्। (बा. रा० ३-३५)

त्रिपुरी के राजा ही थे।* इन ग्रन्थों में त्रिपुरी के वैभव का विशद वर्णन किया गया है जो कि उसकी तत्कालीन समृद्धि पर अच्छा प्रकाश डालता है।

सचमुच में त्रिपुरी प्राचीनकाल में ऐसी ही नगरी थी कि मनुष्य उसे साधारण आदमियों की कृति न मानकर त्रिपुरासुर सरीखे किसी दैत्य की ही कारीगरी समझने के लिये बाध्य होते थे। प्राचीन भग्नावशेषों में एक विशाल पत्थर की दीवाल अभी तक विद्यमान है। इसे राखालदास बंद्योपाध्याय दैत्य-युग का चिह्न मानते हैं। वे कहते हैं "तेवर से करणबेल के रास्ते पर एक ऊँची पत्थर की दीवाल आज तक दैत्य राजकुल के अतीत गौरव की गाथा गा रही है। यदि कोई सज्जन कभी मगध की पुरानी राजधानी राजगृह के दर्शन करने जावें तो वे पुराने राजगिर या गिरिव्रज के उत्तर तोरण में इसी प्रकार के बड़े बड़े पत्थरों से बना हुआ मोर्चा देखेंगे।

"पुरातन गिरिव्रज के पंचगिर के ऊपर ऐसे ही बड़े बड़े पत्थरों की बनी हुई बड़ी दीवाल है।...... बलोचिस्तान में हाब नदी का बांध ऐसे ही पत्थरों से बना हुआ है। अतीत

---

* स्वस्ति श्रीमत् त्रिपुर्यांम तुहिनकर सुना वीचि वाचालितायाम्।
(वि० शा० भं० चतुर्थ अंक)

युग में कौनसी शक्ति इतने बड़े बड़े पत्थरों से इमारतें बनाती थीं यह आज तक हमें पता नहीं।" *

राजगिरि कृष्ण के शत्रु जरासंध की राजधानी मानी जाती थी। जरासंध के नगर-रक्षण का कौशल देख कर श्री कृष्ण जी चकित होकर रह गये थे। सम्भवतः इसी प्राचीन प्राचीर का भग्नावशेष राजगिर की वर्त्तमान दीवाल हो। इसी प्रकार त्रिपुरी की दीवाल चेदि नरेश शिशुपाल के समय की हो सकती है। प्रसिद्ध ही है कि शिशुपाल चेदि का राजा था। उसकी राजधानी त्रिपुरी में रही होगी।

त्रिपुरी के दीवाल के ढंग की दीवालें यूनान में भी पाई जाती हैं। इन्हें लोग दैत्यों की इमारत (cyclopean) कहते हैं। मोहन-जो-दड़ो में भी अत्यन्त प्राचीन भग्नावशेष मिले हैं। इनके आधार पर विदित होता है आज के पाँच हजार वर्ष पूर्व यूरोप से लेकर भारत के पूर्वी भाग आसाम तक एक ऐसी जाति का राज्य था जो कि अत्यन्त विशाल शिलाखण्डों से इमारतें बनाया करती थी। उसी जाति के द्वारा बनाई हुई यह दीवाल प्रतीत होती है। अतः त्रिपुरी का आदि आज से लगभग पांच हजार वर्ष पूर्व का माना जा सकता है। किन्तु इस विषय में अभी बहुत खोज की आवश्यकता है।

---

* विशाल भारत वर्ष २, खण्ड १, संख्या १; पृष्ठ ८६

त्रिपुरी का नाम ईस्वी सन के तीन सौ वर्ष पूर्व के सिक्कों में अंकित मिलता है।

इससे ज्ञात होता है कि त्रिपुरी सन् ईस्वी के ३०० वर्ष पूर्व के पहिले ही अपने नाम से प्रख्यात हो गई थी। इस नगर के नाम से सिक्कों का प्रकाशित किया जाना इसे किसी राज्य की राजधानी अथवा मुख्य नगर प्रकट करता है यहां व्यापार वाणिज्य आदि का भी केन्द्र रहा होगा।

उपरोक्त उल्लेख के उपरान्त फिर सन् ५१८ ई० तक हमें त्रिपुरी का नाम कहीं नहीं मिलता। सन् ५१८ में परिव्राजक महाराज संक्षोभ के ताम्रलेख में त्रिपुरी का उल्लेख है उस समय तक त्रिपुरी केवल एक प्रान्त की मुख्य नगरी थी। कलचुरियों के समय में त्रिपुरी को सच्चा वैभव प्राप्त हुआ। इसका विस्तार मीलों की लम्बाई चौड़ाई में हो गया। इसमें वन उपवनों की इतनी बहुतायत थी कि जब वाक्पतिमुंज ने युवराजदेव द्वितीय के समय में त्रिपुरी पर चढ़ाई की तो डेरा डालने के लिये रेवा तट पर लता वेलियों से परिपूर्ण वाटिकाएँ प्राप्त हुईं। ये वाटिकाएँ त्रिपुरी निवासियों के आनन्दोपभोग के लिये थीं। युवराजदेव के समय में त्रिपुरी अपने वैभव के शिखर पर थी। उसकी तुलना इन्द्र की अमरावती से की गई है। त्रिपुरी के प्राचीन वैभव की झलक केवल अब उसके

आसपास लगभग पाँच वर्ग मील में फैले हुए खण्डहरों में दिखती है।

त्रिपुरी के समीप ही महाराज कर्णदेव ने कर्णवती नाम की एक विशाल नगरी बसाई थी, वह बढ़कर त्रिपुरी का ही एक भाग हो गई थी। कर्णवती के विषय में लिखा गया है कि यह 'श्रेय का सर्वोत्तम स्थान, वेदज्ञान-लता का मूल तथा ब्राह्मणों का साक्षात् ब्रह्मलोक' ही था।

त्रिपुरी और कर्णवती के खण्डहरों में प्राचीन राजमहलों अथवा मन्दिरों आदि के अवशेष अच्छी हालत में नहीं मिलते। केवल दो स्थानों पर पत्थर के कुछ खंभे खड़े हैं। इन सब चिन्हों से त्रिपुरी के गत वैभव का कुछ अनुमान होता है।

श्री नर्मदाप्रसाद खरे के शब्दों में :—

बीते वैभव की एक झलक,
    मैं सूनेपन की रानी हूं।
कलरव कूजित रेवा तट की,
    मैं विस्मृत करुण कहानी हूं।

इसी स्थान के पास कलचुरियों के उपरान्त गोंडराज्य की की राजधानी गढ़ा में कायम हुई। इस में बावनगढ़ तथा बावन तालाब थे। संयोगवश इसी स्थल पर वर्तमान काल में राष्ट्रीय महासभा का बावनवाँ अधिवेशन हो रहा है।

१

भौगोलिक।
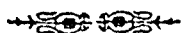
जबलपुर से लगभग आठ मील पश्चिम की ओर तेवर नाम का एक गांव है। यह भेड़ाघाट जानेवाली सड़क पर स्थित है। आजकल लगभग एक हजार मनुष्य यहां रहते हैं किंतु पहले यह अत्यन्त वैभवशाली था। इसके आसपास बहुत से देवालयों और मकानों के खण्डहर अवशिष्ट हैं। यहां वहां पड़ी हुई अनेकों मूर्तियां भी दृष्टिगोचर होती हैं। पास ही एक बड़ा सा तालाब है। ये सब चिह्न इसकी प्राचीनता के द्योतक हैं। मूर्तियां आजकल के ढंग की नई नहीं हैं। उनमें कुछ वज्र-पाणि भगवान् बुद्ध जैन तीर्थंकरों तथा हिन्दू और बौद्ध देवताओं की हैं। ये तेवर की प्राचीनता ईसा की पहिली

सहस्त्राब्दि में ले जाती हैं। शिलालेखों और ताम्रपत्रों से विदित होता है कि वर्तमान तेवर प्राचीन त्रिपुरी का अवशेष मात्र है। यहां बड़े बड़े माण्डलिक और सार्वभौम राजा हो चुके हैं। यह विद्या और कला का केन्द्र रह चुका है। परन्तु समय के परि-वर्तन ने इसे इतना बदल दिया है कि अब यहीं के निवासी तक इसके प्राचीन वैभव के विषय में कुछ नहीं जानते।

त्रिपुरी के उत्कर्ष का समय था लगभग सन् ५०० ई० से सन् १२०० ई० तक। उपरान्त उसका ह्रास आरम्भ हुआ। किंतु उसी समय उसका वैभव कुछ मील पूर्व की ओर गढ़ा नामक दूसरे नगर के रूप में प्रकट होगया। यहां बहुत समय तक गोड़ों की राजधानी रही। गढ़ा-मण्डला अथवा गढ़ा-कटंगा का पहिला नाम इसी गढ़ा का बोधक है। आजकल गढ़ा छोटा सा कस्बा है और जबलपुर म्युनिसिपैलिटी की सीमा में आता है। इसके आसपास बहुत से तालाब, मन्दिर, कुएं, बावलियां और उजड़े हुए बगीचे आज भी इसके गत गौरव का प्रमाण देते हैं। पर्वत शिखर पर अवशिष्ट गोड़ों के राजभवन अपने दूरंगत ऐश्वर्य को आज भी मस्तक उठा उठा कर देखसा रहे हैं। यहां के निवासी संध्या समय अग्नि के आस पास बैठकर संग्रामशाह और दुर्गावती की कहानियां रो रो कर सुनाते हैं। ये बातें बहुत पुरानी नहीं हैं। जहां त्रिपुरी के दिनों को गये सात सौ वर्ष से ऊपर बीत गये, गढ़ा को अपना वैभव खोये सौ

डेढ़ सौ ही साल हुए हैं। आजकल का गढ़ा प्राचीन गढ़ा की केवल भग्न समाधि है; किंतु उसके स्थान में, शक्ति की अमरता सी सिद्ध करता हुआ, जबलपुर उठ खड़ा हुआ है।

प्राचीन लेखों में त्रिपुरी के अन्तर्गत एक जाउलि पत्तन नामक मण्डल का उल्लेख मिलता है (जयसिंहदेव का ताम्रलेख) सम्भवतः वही जबलपुर का बीजरूप है। जाबालिऋषि से इस नाम का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। फारसी वाले इसकी उत्पत्ति फारसी शब्द जबल (पत्थर) से बताते हैं। कुछ भी हो वर्तमान जबलपुर एक बिल्कुल नया शहर है। इसका इतिहास न गोंड़ों से सम्बन्ध रखता है और न कलचुरियों से। मरहटों और अंग्रेजों से ही इसके वैभव के नाते जोड़े जा सकते हैं। मरहटों ने इसके आस पास एक परकोटा बनवाया था। आज उस प्राचार के चिह्न केवल तीन बड़े बड़े फाटकों में शेष रह गये हैं। इनमें कमानियाँ फाटक (पटेल दरवाजा) औरों से ज्यादा प्रसिद्ध है।

जबलपुर भारत के केन्द्र में है और महाकोशल में सबसे बड़ा नगर है। यहां उद्योग धंधे भी कई हैं। विविध प्रकार के मार्गों द्वारा प्रायः सभी प्रसिद्ध स्थानों से संबंध है। आस पास ऊंची नीची पहाड़ियां हैं और थोड़ी ही दूर रेवा का पुण्य-प्रवाह है जिस पर भेड़ाघाट की संगमर्मर की चट्टानें और सुरम्य धुआंधार जगत्प्रसिद्ध हैं। पश्चिम में मीलों तक हवेली की उपजाऊ भूमि

है। ठण्ढ और गर्मी दोनोंही स्वास्थ्य के लिये वाञ्छनीय परिमाण में पड़ती है। अतः यहां का जलवायु सब प्रकार के मनुष्यों को रुचता है। पृथ्वी सतह के निकट ही जल है। फलतः बगीचों और फल-फूलों की बहुतायत है। सारांश में जबलपुर सुखकर नगर है।

त्रिपुरी, गढ़ा और वर्तमान जबलपुर के स्थानों में विशेष अन्तर नहीं है। अपनी उन्नति के दिनों में पहिले दो नगर अवश्य ही जबलपुर तक विस्तृत रहे होंगे। आज भी त्रिपुरी के प्राचीन ताम्रलेख और दूसरे चिन्ह जबलपुर में प्राप्त होते हैं। अतः जो भौगोलिक लाभ जबलपुर को हैं वे पूर्ववर्ती दो नगरों को भी रहे होंगे। एक के बाद एक ऐसे तीन नगरों का उदय इस स्थान विशेष की महत्ता का सूचक है। सचमुच में यहाँ का नैसर्गिक सौन्दर्य, नर्मदा का पावनतट, भेड़ाघाट का स्वर्गिक दृश्य, पर्वतों का आश्रय, हवेली की उपजाऊ भूमि और जल की बहुतायत किसी भी स्थान को बार बार गिरने पर भी उठाने की सामर्थ्य रखते हैं। मनुष्य को भोजन, वसन, सौन्दर्य और स्वास्थ्यकर जलवायु के अतिरिक्त और चाहिये ही क्या?

विंध्याटवी अथवा विंध्य-मेखला ।

विंध्याचल और सतपुड़ा भारत के बड़े बड़े पर्वतों में से है।

महेन्द्रोमलयः सह्यः शक्तिमानृक्ष पर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥

(विष्णुपुराण)

नर्मदा ने उत्तर की पर्वतमाला को विन्ध्य तथा दक्षिण की पर्वत श्रेणी को सातपुड़ा कहते हैं। उत्तर विन्ध्य और दक्षिण विन्ध्य के नाम से भी इन्हें पुकारा जाता था। कोई कोई ऋक्ष पर्वत ही को सातपुड़ा मानते हैं और पारियात्र को पश्चिमी विन्ध्य कहते हैं। *

ये पूर्व से पश्चिम की ओर लगभग सात सौ मील तक फैले हुए हैं। कई स्थानों में इनकी ऊँचाई हजारों फुट है। चौड़ाई भी सैकड़ों मील है। वर्षा खूब होती है। अतः घने वनों की भी कमी नहीं है। बालाघाट आदि के जंगल आज भी प्रसिद्ध हैं फिर प्राचीन काल की तो बात ही अलग है। तेज धार वाली कितनी ही दुर्गम नदियाँ बहती हैं। इन सब के कारण आज कल भी आवागवन के मार्ग इस प्रान्त में बहुत कम हैं। उत्तर से

---

* भारतीय इतिहास की रूपरेखा लेखक श्री जयचन्द्र विद्यालङ्कार जिल्द २ पृ० ७७७

दक्षिण को सड़क ले जाना इतना कठिन है कि बंगाल नागपुर रेलवे को जबलपुर से गोंदिया तक सकरी पटरी वाली रेल डालनी पड़ी है। अतः हजारों वर्षों तक उत्तरी भारत दक्षिण से अलग रहा। किसी ने विंध्याद्रि को पार करने का प्रयत्न नहीं किया।

सम्भवतः अगस्त्य ऋषि ही पहिले पुरुष थे जो दक्षिण को गये। इन्हें विन्ध्य को रोकने वाला (विंध्यस्य संस्तंभयिता) कहा गया है। कथा प्रसिद्ध है कि विंध्याचल इतना ऊँचा था कि सूर्य के प्रकाश को रोक लेता था। यह धृष्टता उसके गुरु अगस्त्य को अच्छी न लगी। वे विंध्य के समीप आये। शिष्य प्रणाम करने को झुका। उन्होंने आज्ञा दी कि जब तक हम दक्षिण से न लौटें ऐसेही रहो। वे दक्षिण को चले गये और आज तक न लौटे। बेचारा विंध्याचल झुका हुआ है और लोग उसके मस्तक पर पादप्रहार करते हुए उसे पार किया करते हैं! कुछ भी हो, यह प्रतीत होता है कि अगस्त्य ने दक्षिण का मार्ग बतलाया।

अगस्त्य के उपरान्त बहुत दिनों तक लोग दक्षिण की ओर नहीं गये, और गये भी तो चुपचाप विंध्या और सतपुड़ा को पार करके दूसरी ओर निकल गये। यह प्रान्त इतना दुर्गम रहा कि इसकी ओर लोगों ने ध्यान ही नहीं दिया। जब बसने वालों को मैदान मिलते थे तो पहाड़ों से कौन सिर

मारने चलता ? उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जन संख्या के लिये स्थान और जीविकोपार्जन के लिये मैदानों के उपरान्त वन्य और पार्वतीय प्रदेशों की भी आवश्यकता हुई। विंध्य और सतपुड़ा के बीच में बस्तियाँ बसीं और सभ्यता का विकास हुआ। तभी से हम इसका उल्लेख पाते हैं। प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित विंध्यावटी अथवा विंध्य-मेखला यही है। भारत के मध्य में होने के कारण 'विन्ध्य मेखला' शब्द बहुत ही उपयुक्त है।

चेदि।

ऐतिहासिक प्रमाणों से जाना जाता है कि विंध्य और सतपुड़ा के बीच और आसपास का प्रान्त ईसा की आठवीं शताब्दी के लगभग चेदि कहलाता था। यहाँ के कलचुरि राजा भी चेदिप अथवा चेदीश कहलाते थे। किंतु यह नाम इस प्रान्त को बहुत पहिले से प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। वैसे तो ऋग्वेद के दशम मण्डल में चेदि–राजा काशु (जिसने कि सौ ऊँट और दश हजार गौ ब्रह्मातिथि नामक ऋषि को दान की थीं) का नाम आया है किंतु वहाँ चेदि शब्द जाति विशेष का सूचक है प्रान्त का नहीं। किंतु दूसरे प्राचीन ग्रंथों में चेदि प्रान्त 'मध्य देश' में बतलाया गया है। यह मध्य देश पंजाब से लेकर बिहार (मगध) तक का समस्त गंगा का कछार समझा जाता था। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान मध्यप्रदेश

का भी कुछ भाग इसमें सम्मिलित था और यह भाग मध्यदेश स्थित उक्त चेदि प्रान्त था। इसके कुछ प्रमाण भी हैं।

चेदि की राजधानी शुक्तिमती थी। यह इसी नाम की एक नदी के किनारे बसी थी। पार्जिटर साहिब केन या कयान नदी को ही शुक्तिमती मानते हैं। यह नदी जबलपुर जिले की भांडेर नामक विंध्याचल की एक शाखा से निकलती है। अतः चेदि प्रान्त भी यहीं होना चाहिये।

महाभारत में भी चेदि का उल्लेख है। यहाँ का राजा कृष्ण का प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वी, शिशुपाल था। यह महाभारत युद्ध के पूर्व ही मार डाला गया था। किंतु महाभारत युद्ध में हम चेदि के राजा को पाण्डवों की सहायता करते हुए पाते हैं। कौरवों की ओर से अन्य राजाओं के साथ साथ अवन्ति तथा माहिष्मती के राजा लड़ रहे थे। उपरोक्त तीनों देश—चेदि, अवन्ति तथा माहिष्मती—'मध्यदेश' में वर्तमान थे। यह प्रसिद्ध और सर्वमान्य है कि अवन्ति वर्तमान उज्जैन नगरी है। कोई कोई विद्वान ओंकार मान्धाता (निमाड़ जिले में) और अन्य विद्वान् वर्तमान मण्डला शहर को ही प्राचीन माहिष्मती मानते हैं।* ऐसी परिस्थिति में हम बाध्य होकर

---

* कनिंघम साहिब लिखते हैं कि जिझौति से चीनी यात्री ह्यून सांग १५० मील उत्तर' चलकर महेश्वरपुर आया जहाँ का राजा ब्राह्मण था। उनकी सम्मति

मानना पड़ता है कि प्राचीन मध्यदेश का क्षेत्र केवल गंगा के कछार में ही संकुचित नहीं था किंतु दक्षिण में नर्मदा तक फैला था और चेदि देश विंध्य और सतपुड़ा के बीच का ही प्रदेश था। जैसा कि बाद में प्रसिद्ध हुआ।

में "यह 'उत्तर' न होकर 'दक्षिण' होना चाहिये जहाँ कि इसमें मण्डला का पुराना शहर मिलता है।" स्लीमन साहिब ने भी इसे महेश्वरपुर कहा है। यह राज्य १५०० मील गुलाई में था। उत्तर नर्मदा की यही राजधानी थी जो कि बाद में त्रिपुरी या तेवर चली गई। (Ancient Geography of India Page 559)

महावंश नामक बौद्ध ग्रंथ में वर्णन आया है कि थेरो नामक बौद्ध भिक्षु अशोक के राज्य काल में महेश-मण्डल भेजा गया। [टर्नर कृत महावंश पृ० ७१]

ब्राह्मण लोग इसे माहिष्मती मानते हैं। मण्डला किसी स्थान का बोधक न होकर केवल एक जिले का पर्यायवाची शब्द है। मूल नाम माहिष्मती मण्डल या महेश मण्डल रहा होगा जो अब मण्डला रह गया। Cunningham:— A tour in C. P. and Berar 1881-82 Page 54.

कालिदास के वर्णन से इतना स्पष्ट है कि माहिष्मती नर्मदा तट पर स्थित थी। स्वयंवर में सुनन्दा इन्दुमती को माहिष्मती के राजा का परिचय देते हुए कहती है :—

अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहो
माहिष्मतीवप्रनितम्ब काञ्चीम्
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां
रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ॥

(रघु० ६-४३)

विन्सेण्ट स्मिथ साहिब कहते हैं कि "बुन्देलखण्ड के दक्षिण का प्रान्त जो कि आजकल मध्यप्रदेश के चीफ़ कमिश्नर के शासन में है करीब करीब पुराना चेदि देश ही है। ……… ………ग्यारहवीं शताब्दि से चेदि देश दो राज्यों में विभाजित हो गया था। पश्चिमीय चेदि या दाहल की राजधानी त्रिपुरी थी और पूर्वीय चेदि अथवा महाकोशल की राजधानी रतनपुर थी।" * इससे स्पष्ट है कि चेदि देश छत्तीसगढ़ तक फैला हुआ था और महाकोशल तथा दाहल उसके केवल पूर्वीय और पश्चिमीय भाग मात्र थे। चेदि का नाम अनेक शिलालेखों में मिला है; यहाँ तक कि सन् १३२८ तक के दमोह जिले से प्राप्त एक शिलालेख में भी चेदि देश का नाम आया है। †

---

* Early History of India by V. A. Smith. Page 380

† सर्व्वसागर पर्यन्तं वशीचक्रे नराधिपान्।
　　　　　महमूदसुरत्राणो नाम्ना शूरोभिनन्दतु॥
तेनाज्ञप्तो मल्लिकोऽसौ जुलची नाम विश्रुतः
　　　　　योद्धा खर्पर सैन्यानां चेदि देशाधिपोऽभवत्॥

(Batigadh Garden Insenption deposited in the D. C's. Bunglow at Damoh.)

दाभाल अथवा दाहल।

जैसा कि स्मिथ साहिब के अवतरण से विदित होता है दाभाल केवल चेदि देश का पश्चिमी भाग था। इसकी राजधानी त्रिपुरी थी। इसका उल्लेख सबसे पहिले परिव्राजक महाराज संक्षोभ के, वैतूल से प्राप्त, ताम्रलेख में मिलता है। यद्यपि ये ताम्र-पत्र वैतूल में मिले हैं किन्तु अब निर्विवाद है कि ये जबलपुर जिले के हैं। इसमें उल्लेख है कि महाराज संक्षोभ दाभाल तथा अठारह अन्य वन्य * राज्यों के स्वामी थे और त्रिपुरी उसका एक विषय (प्रान्त) मात्र था। दाभाल की उत्तरी सीमा वर्तमान जबलपुर की उत्तरी सीमा के ही समान मानी जाती है। उत्तर की ओर यह त्रिपुरी से कम से कम एक सो वीस मील तक फैली हुई थी और जिन गाँवों का दानपत्र में उल्लेख है वे इस सीमा के लगभग मध्य में पड़ते हैं। त्रिपुरी से ६० मील निलहरी (मुड़वारा तहसील) के पास पटवारा

---

* अनेक समरशत विजयिनः स अष्टदश अटवी राज्याभ्यन्तरम् दाभालराज्यं समनुपालयिष्णोर्नेसगुण विख्यातयशः·········पुण्याभृध्यायांय त्रिपुरि विषये प्रस्तरवाटक ग्रामस्य अर्धम् द्वारवाटिकायाश्तु चतुर्थां इत्यादि.

गाँव ही प्रस्तरवाटक (पट्टार वाटक=पठारवारा=पटवारा) माना गया है।। *

डाक्टर फ्लीट के मतानुसार त्रिपुरी के कलचुरियों की मूल राजधानी कालिञ्जर थी। इसका एक प्रान्त दाहल, दाहाल या दहला था।। इसी का प्राचीन नाम दाभाल था। †

अलबरूनी ने भी अपने ग्रंथ में 'दाहल' और उसकी राजधानी 'तिऔरी' (त्रिपुरी) का उल्लेख किया है। ‡ इस बातों से निश्चित दाभाल प्रान्त की भौगोलिक स्थिति बहुत कुछ निश्चित हो जाती है।

अष्टादश अटवी राज्य।

ये अठारह राज्य कहाँ थे यह विषय बड़ा विवाद ग्रस्त है। विद्वान् इन्हें प्राचीन गौड़ देश (जो कि बाद में गौड़वाना

---

* Ep. Ind Vol. VIII, Page 287.

† Ep. Indica Vol. VIII, Page 285.

‡ अलबरूनी का भारत भाग २ पृष्ठ १२७ (अनुवाद-संतराम बी. ए.)

For fuller discussion see Betul plates of Samkshobha in Ep Ind. Vol. VIII Page 288.

कहलाया) बघेलखंड और छोटा नागपुर तथा छत्तीसगढ़ के बीच में ही स्थान देते हैं। यह सब भूभाग समुद्र गुप्त द्वारा जीता गया था। इनमें कुछ पिछड़े और जंगली राज्य थे। जान पड़ता है ये ही जंगली राज्य अठारह अटवी के नाम से संबोधित किये गये हैं। सम्भवत: सतपुड़ा की तराई में स्थित समस्त प्रान्त इनमें सम्मिलित रहा है। कोई कोई विद्वान् प्राचीन "चेदीश दुर्ग" ही को "छत्तीसगढ़" का पूर्व रूप मानते हैं।

महाकोशल।

विंसेण्ट स्मिथ के पूर्वोक्त उल्लेख से पता चलता है कि प्राचीन चेदि का पूर्वीय भाग ही आगे चलकर महाकोशल कहलाया। किंतु वर्तमान काल में समस्त हिन्दी जिलों को महाकोशल नाम दे दिया गया है। अत: यह विचारणीय है कि सचमुच में प्राचीन महाकोशल की भौगोलिक स्थिति क्या थी ?

महाभारत में चेदि के साथ ही साथ कोशल का भी उल्लेख है। यहाँ का राजा भी पाण्डवों की ओर से लड़ने को आया था। बौद्ध कालीन सोलह महाजानपदों में से कोशल भी एक था। किंतु यह कोशल अयोध्या का राज्य ही था, न कि हमारा महा-कोशल। कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में अयोध्या के राजा

को 'उत्तर कोशलेश्वर' कहा है।* इससे जान पड़ता है कि उस समय दो कोशल विख्यात हो चुके थे।

कालिदास के वर्णन से यह भी प्रगट होता है कि राना मम विदर्भ देश के राजा की पुत्री इन्दुमती के स्वयंवर में जाते समय बनों के बीच में से होता हुआ गया और नर्मदा के तीर पर उसने अपनी सेना को विश्राम दिया। † यदि वर्तमान बरार को हम विदर्भ देश माने—जैसा कि विद्वानों ने माना है—तो वह अवश्य ही वर्तमान महाकोशल के बीच से गया होगा।

दक्षिण कोशल का उल्लेख हमें सम्राट् समुद्र गुप्त की विजय में मिलता है। प्रयाग प्रशस्ति से विदित होता है कि "विजयी समुद्र गुप्त ने छोटा नागपुर से होकर अपनी सेना को 'दक्षिण कोशल' की ओर प्रेरित किया और वहाँ के राजा महेन्द्र को हराया। आगे बढ़कर उसने जंगली राज्यों के राजाओं को जीता" जो कि आज कल उड़ीसा तथा मध्य प्रान्त को पिछड़े हुए भागों में व्याप्त है। ‡

रघु की दिग्विजय के वर्णन में कालिदास ने कहा है कि "सप्रतापं" महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत् "अंकुश"

---

* रघु० स० ३ श्लो० ५ † रघु० स० ५ श्लो० ४० से ४२

‡ Early History of India by V. A. Smith page 250

अर्थात् रघु ने वंग, उत्कल और कलिङ्ग जीतने के बाद महेन्द्र के सिर पर अपना प्रताप जमाया। (रघु० स० ४ श्लो० ३८-३९) विद्वानों का अनुमान है कि कालिदास ने रघु की दिग्विजय के बहाने सम्राट् समुद्र गुप्त की विजय यात्रा ही का वर्णन किया है। * यदि यह ठीक है तो कालिदास का 'महेन्द्र', पर्वत न होकर दक्षिण कोशल का राजा महेन्द्र ही था। चीनी यात्री ह्यूनसांग कलिंग देश ही से चलकर कोशल में आया था। कोशल देश का वर्णन बृहत्संहिता में भी मिलता है। उसमें कोशल पूर्वीय देशों में गिना गया है।

श्री हर्ष रचित रत्नावली नाटिका में भी कोशल राज्य विन्ध्याचल के बीच में बताया गया है। वायु पुराण के अनुसार रामचन्द्र जी के पुत्र कुश ही कोशल के राजा थे और उनकी राजधानी कुशस्थली या कुशावती विंध्याचल की चोटियों पर स्थित थी। इससे प्रकट होता है कि जब कुश को विंध्याटवी का राज्य दिया गया तब उसका नाम अपनी मूल भूमि कोशल से संबंध बनाये रखने के लिये कोशल ही रखना ठीक समझा गया और यह प्रान्त मूल कोशल या उत्तर कोशल से बड़ा होने के कारण

---

* पं० महावीरप्रसाद त्रिवेदी कृत कालिदास पृ० ६७ तथा श्री राजेन्द्रनाथ विद्याभूषण कृत "कालिदास" की भूमिका।

महाकोशल और दक्षिण में होने के कारण दक्षिण कोशल कहा गया है। अमेरिका के न्यूयार्क, न्यू आर्लिपेंस इत्यादि नगर ऐसे नामों के आधुनिक उदाहरण हैं।

अब प्रश्न यह है कि यह दक्षिण कोशल यथार्थ में था कहाँ ? चीनी यात्री ह्यूनसांग (जो कि सातवीं सदी में भारत में आया था) के आधार पर कनिंघम साहिब वर्तमान चांदा नगर को इसराज्य (महाकोशल) की राजधानी मानते हैं। * चीनी यात्री के वर्णन में आया है कि वह "कलिंग देश से १८०० या १६०० ली (३०० मील) उत्तर पश्चिम की ओर बढ़कर कोशल राज्य में पहुँचा।" इसके आधार पर वे विदर्भ राज को दक्षिण कोशल समझते हैं क्योंकि कलिंग की राजधानी राजमहेन्द्री चांदा से २६० मील और धरनी कोटा से २८० मील उत्तर पश्चिम में है।

चीनी यात्री ने यह भी लिखा है कि कोशल की राजधानी सात मील के घेरे में है और इसके पास ही एक विशाल पर्वत है। इस पर्वत में कुछ गुफाएँ किसी साधु, संभवतः नागार्जुन और उसके साथियों के रहने के लिये खुदवाई गई थीं। इन चिन्हों के आधार पर बहुत विवेचन करने के उपरान्त कनिंघम साहिब चाँदा को ही कोशल को राजधानी निर्धारित करते हैं ह्यूनसांग का कथन है कि ये गुफाएँ सातवाहन ने बनवाई थी।

---

* Cunningham : Ancient Geog. of India. Pag. 595.

किन्तु सालवाहन एक परिवार का नाम जान पड़ता है जिसका जिक्र नासिक की गुफाओं के लेखों में आया है। अतः नागार्जुन और सातवाहन के संबंध से ये गुफाएँ ईसा की पहली शताब्दी में जाती है।

यह भी सिद्ध हो चुका है कि सातवाहन तथा गौतमी पुत्र शातकर्णी एक ही व्यक्ति थे। शातकर्णी के राज्य के अन्तर्गत कोशल का राज्य बतलाया गया है। अतः स्पष्ट है कि महाकोशल यही प्रदेश है जिसकी राजधानी कभी चन्द्रपुर (चाँदा) और कभी श्रीपुर (सिरपुर) में रहचुकी है।

ह्यूनसांग ने कोशल राज्य का घेरा ६००० ली (१००० मील) बतलाया है। उसकी यात्रा के वर्णन से कनिंघहम साहब का अनुमान है कि (महा) कोशल के उत्तर में उज्जैन पश्चिम में महाराष्ट्र पूर्व तथा दक्षिण में कलिंग और आंध्र देश थे। अतः ताप्ती के किनारे बुरहानपुर से लेकर गोदावरी तट पर नादेर तक, छत्तीसगढ़ में रत्नपुर से लेकर महानदी के किनारे नवागढ़ तक यह राज्य फैला हुआ था। इस प्रकार इसका घेरा एक हजार मील से अधिक हो जाता है। *

इससे यही प्रगट होता है कि सातवीं सदी में कोशल देश की सीमाएं काफी विस्तृत हो गई थीं और उसमें मध्यप्रदेश के

* Cunningham : Ancient Geog. of India. Page 698.

पूर्वी (छत्तीसगढ़) और दक्षिणी (नागपुर चांदा आदि) भाग सम्मिलित थे। *

किन्तु इसके बाद सन् १८९७ की खोजों से यह सिद्ध होता है कि महाकोशल की सीमाएँ इस प्रकार थीं :- उत्तर में नर्मदा नदी के मूलस्रोत अमरकण्टक तक, दक्षिण में महानदी के मूलस्रोत कांकेर तक, पश्चिम में वैनगंगा और पूर्व में हसदा और जोंग नदी तक। किंतु जैसा कि पहिले कहा जा चुका है इसकी सीमाएँ कई बार इससे भी अधिक विस्तृत हो चुकी हैं। पश्चिम में मण्डला और बालाघाट तथा पूर्व में सम्भलपुर और सोनपुर तक का समस्त प्रदेश इसके भीतर आ जाता था। † इससे स्पष्ट होता है कि वर्तमान मध्यप्रदेश के पूर्वी जिले (छत्तीसगढ़) ही महाकोशल कहलाते थे किन्तु उत्तरीय जिले (जबलपुर आदि) कभी उसकी सीमा के अन्तर्गत नहीं रहे।

---

* Journal of Royal Asiatic Society as quoted in 1897.

† गुप्तवंश का इतिहास पृष्ठ ६८

२

प्राचीन काल

प्रागैतिहासिक काल से ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक।

प्रथम अध्याय में जो भौगोलिक विवरण है उससे ज्ञात होता है कि वर्तमान महाकोशल का पूर्वी भाग पूर्व चेदि अथवा महाकोशल खास में आता था और पश्चिमी भाग दाभाल, डाहल या पश्चिमी चेदि कहलाता था। यह समस्त देश चेदि नाम से पुकारा जाता था। चेदियों का उल्लेख ऋग्वेद सरीखे प्राचीनतम ग्रंथों में मिलता है। महाभारत में तो चेदि नरेश शिशुपाल उस समय के सबसे बड़े राजाओं में गिने गये हैं। कृष्ण द्वारा शिशुपाल के वध के उपरांत भी चेदि नरेशों के बल-वैभव का हाल

नहीं हुआ। पाण्डवों की ओर से उनके लड़ने का उल्लेख किया ही जा चुका है। अतः हम वैदिक और ऐतिहासिक काल में इस देश के राजाओं और उनके पूर्वजों की जड़ पाते हैं।

पुराणों में चेदि के विषय में कुछ अधिक जानकारी मिलती है। कुरु राजा के वंश में वसुउपरिचर नामक राजा को चेदि देश का राज्य दिया गया था। इसका लड़का चेदिय हुआ। एक दूसरे यदुवंशी राजा ने नर्मदा मृत्तिकावती और शुक्तिमती नदियों और ऋक्षवन्त तथा मेकल पर्वतों के किनारे के देश पर विजय प्राप्त की। ब्रह्म पुराण के आधार पर मि० विल्सन का कथन है कि वह ऋक्षवन्त पर्वत के किनारे शुक्तिमती में बसा। इसका पौत्र कैशिक या मणिवाहन था और उसका पुत्र चेदि था जो कि इस वंश का प्रवर्तक हुआ। इसी के वंशज चैय कहलाये। दामघोष और शिशुपाल इन्हीं के वंश में हुए। *

बौद्ध ग्रंथों में भी चेदि और अवन्ति के नाम आये हैं। उनमें सोलह बड़े बड़े राष्ट्र (महाजानपद) गिनाये गये हैं। उनमें से दो ये भी हैं। † इन सब उल्लेखों से

---

* Archological survery of India Vol. XVIII page 73.

† Cambridge History of India (Rapson) Vol. I page 172.

पता चलता है कि प्रागैतिहासिक काल में यह प्रदेश इतना बढ़ा चढ़ा था कि उत्तर के युद्धों में यहां के राजा आमंत्रित होते थे। उस समय इस प्रदेश की आन्तरिक सभ्यता तथा परिस्थित कैसी थी यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। यह कठिनाई केवल हमारे ही प्रदेश के साथ नहीं है। भारत के समस्त प्रान्तों के विषय में भी यही हाल है। तो भी यह निश्चित है कि चूंकि चेदि देश दूसरे देशों से वरावर सम्पर्क में आता, था यहां तक कि विवाह संबंध आदि के लिये यहां के राजा चुने जाते थे * यह प्रान्त दूसरों की अपेक्षा पीछे नहीं रहा होगा। यह अनुमान इस वात से और भी पुष्ट हो जाता है कि बौद्ध ग्रंथ इसकी गिनती भारत के सोलह महाजानपदों में करते हैं

उपरोक्त प्रागैतिहासिक सामग्री के सूक्ष्म विश्लेषण मात्र से एक और वात प्रतीत होती है। वह यह कि उस समय में इस प्रांत का उत्तरीय राज्यों से यातो कोई राजनैतिक संबंध नहीं था और था तो केवल समानता और मित्रता अथवा शत्रुता का। न यह देश उत्तरीय देशों के अधीन था और न वे इसके अधीन। सम्भवतः ऐसी परिस्थिति अशोक के समय तक रही आई। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य की दक्षिणी सीमा कहां तक

---

* शिशुपाल को रुक्म ने श्री कृष्ण की अपेक्षा अधिक योग्य समझकर रुक्मणी को ब्याहने के लिये आमंत्रित किया था।

थी यह निश्चित नहीं है। प्रमाण तो नहीं है किंतु यह अनुमान किया जाता है कि वह नर्मदा तक रही है और सम्भवतः इसके भी दक्षिण तक होवे। * ऐसी परिस्थित में वर्तमान महाकोशल का कुछ भाग उसके राज्य में सम्मिलित रहा होगा। स्वर्गीय रायबहादुर हीरालाल ऐसा ही मानते हैं। † चन्द्रगुप्त का राज्य यहां रहा हो या न रहा हो परन्तु यह निश्चित है कि उनके पौत्र महाराज अशोक का राज्य अवश्य ही समस्त महाकोशल प्रान्त में था और इसके भी दक्षिण तक वह फैला हुआ था।

चन्द्रगुप्त से अशोक तक का समय था ई० पू० ३२३ से २३२ के बीच में। ईसा के २३२ वर्ष पूर्व अशोक का देहावसान हो गया। ये दो राजा भारत के इतिहास में अद्वितीय थे। एक अपनी राजकीय और दूसरा अपनी धार्मिक संस्थाओं और संगठन के लिये प्रसिद्ध है। इन्होंने भारत के इतिहास में, उसके समाज और धर्म में बड़ी भारी क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। इस प्रान्त पर उनका जो प्रभाव हुआ उसका विचार आगे के अध्याय में करेंगे।

अशोक के उपरान्त दशरथ, सांगत, सालिशुक, सोमश्रवण, शतधन्वन् और वृहद् रथ नाम के छः मौर्य राजा और

---

* Vincent Smith V. A. Smith Early History of India page 118.

† रा. ब. हीरालाल :— जबलपुर ज्योति पृष्ठ ७.

हुए किंतु ये बहुत क्षीण-शक्ति रहे। इनके समय में अशोक द्वारा निर्मित साम्राज्य कटछँट गया था। यहाँ तक कि ईस्वी पूर्व सन् १८५ में पुष्यमित्र शुंग नाम के एक व्यक्ति ने बृहद्रथ को मार डाला और स्वयं राजा बन गया। पुष्यमित्र जाति का ब्राह्मण और बृहद्रथ का सेनापति था। कोई २ इसे किसी अन्य राजा का पुरोहित बतलाते हैं। इसने राज्य प्राप्त करने पर उत्तरी भारत में एक नये वंश (शुंगवंश) की नींव डाली। सम्भवतः इसे अन्तिम मौर्यों का सम्पूर्ण राज्य मिल गया था। इसमें वर्तमान संयुक्तप्रान्त, विहार, तिरहुत और नर्मदा तक का समस्त देश शामिल था।* पंजाब बहुत करके अशोक के वंशजों के हाथ से निकल गया था अतः शुंगों के हाथ में नहीं आने पाया।

पुष्यमित्र शुंग का ज्येष्ठ पुत्र अग्निमित्र था। यही उसका उत्तराधिकारी और युवराज था। शुंग साम्राज्य के, नर्मदा के उत्तर वाले, दक्षिणी प्रान्त इसके अधीन थे। इसकी राजधानी विदिसा (वर्तमान भिलसा) नगरी थी। यहीं से वह शुंगो के समस्त दक्षिण-पश्चिम साम्राज्य का शासन करता था। अग्निमित्र का विदर्भ के राजा से युद्ध हुआ था। इसमें अग्नि-

---

* Smith:—Early Hist. of India. Page 198.

मित्र ने अपने विपक्षो को बहुत बुरी तरह से हराया। उसे अपना आधा राज्य अग्निमित्र की इच्छानुसार अपने चचेरे भाई को देना पड़ा। इन दो भागों की सीमा वरदा (वर्तमान वर्धा) नदी निश्चित की गई। इस घटना से अनुमान होता है कि नर्मदा से दक्षिण का देश, खास करके विदर्भ, शुंगों के हाथ में नहीं था। उत्तर का प्रान्त अर्थात् चेदि उनके हाथ में अवश्य रहा होगा। अन्यथा यहाँ के राजा से भी युद्ध आदि होता जिसका कुछ उल्लेख हमें कालिदास के मालविकाग्निमित्र अथवा अन्यत्र विदर्भ के युद्ध के साथ मिलता। यह संभावना इस बात से और भी पुष्ट होती है कि पुष्यमित्र शुंग ने अश्वमेघ यज्ञ किया था। कुछ यवनों को छोड़कर और किसी राजा ने इस यज्ञ में बाधा नहीं दी। यदि यहाँ कोई अन्य प्रतिद्वन्द्वी होता तो विदर्भ के राजा के साथ साथ उसका भी उल्लेख करना आवश्यक होता। क्योंकि अश्वमेघ के लिये यह आवश्यक है। पुष्यमित्र वैदिक धर्म का कट्टर पक्षपाती था। केवल अश्वमेघ यज्ञ से ही उसका सन्तोष नहीं हुआ। बौद्ध ग्रंथकार उसे अत्यन्त क्रूर और अत्याचारी बतलाते हैं। कहा जाता है कि मगध से लेकर जालन्धर (पंजाब) तक उसने अपने समस्त राज्य भर के विहार और चैत्य जला डाले थे तथा भिक्षुओं को इतना सताया था कि बेचारों को अपने प्राण लेकर दूसरे राज्यों को भागना पड़ा था।

पुष्यमित्र के उपरान्त उसका पुत्र राजकुमार अग्निमित्र सिंहासनारूढ़ हुआ। संस्कृत नाटक मालविकाग्निमित्र का नायक यही राजा है। विद्वानों ने यह निश्चित कर लिया है कि उक्त नाटक का कथानक सच्चा और मान्य है। उसमें पुष्यमित्र के अश्वमेध का सजीव वर्णन है और उसी से अग्निमित्र के विषय की अन्य बातें विदित होती हैं। मालूम होता है कि अग्निमित्र केवल थोड़े ही समय राज्य कर पाया। उसके उपरान्त वसुज्येष्ठ (अथवा सुज्येष्ठ) और फिर उसके बाद अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र गद्दी पर बैठा। ये थोड़े ही दिन राज्य कर पाये। इनके उपरान्त सत्रह वर्षों में और भी चार राजा हुए किंतु वे जल्दी जल्दी समाप्त होते गये। नवाँ राजा भागवत लगभग बत्तीस वर्ष तक गद्दी पर रहा। उसके उपरान्त दशम राजा देवभूति हुआ। यह बहुत भोगी विलासी और लम्पट बताया जाता है। एक षड्यन्त्र में उसका और उसके साथ शुंग वंश का अंत होगया।

शुंगो के उपरान्त कान्ववंश आया। इसने लगभग ४५ वर्ष तक राज्य किया। इनका अंत आंध्रों के हाथ से हुआ। आंध्रों का राज्य दक्षिण में गोदावरी के किनारे बहुत दिनों से चला आता था। मौर्यों के समय में ये लोग दबे रहे किन्तु उनके ह्रास के उपरान्त ये उत्तर की ओर बढ़े। पहिले शुंगों

से लड़कर इन्होंने पश्चिमी मालवा अर्थात् उज्जैन उनसे छीन लिया। उपरान्त विदिसा (भिलसा) पर भी अपना अधिकार कर लिया। ये लोग अत्यन्त बलवान थे और इनका सैन्यबल खूब बढ़ा चढ़ा था। इससे सम्भव है कि चेदि (वर्तमान महा-कोशल) पर भी इन्होंने अपना हाथ फेरा हो। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रान्त के कितने भाग पर इनका आधिपत्य था और कब यहाँ से उनका संबंध टूट गया।

यहाँ एक बात की चर्चा कर देना और आवश्यक है। वह यह कि भेड़ाघाट के धुआँधार ? में दो बड़ी बड़ी कुशान मूर्तियाँ मिली हैं। इनके लेख से मालूम पड़ता है कि लगभग दो हजार वर्ष पूर्व किसी राजा 'भुवक' अथवा 'भूमक' की लड़की ने इन्हें स्थापित किया था। * इससे अनुमान किया जा सकता है कि लगभग दो हजार वर्ष पूर्व इस प्रान्तों में कुशानों का भी राज्य रह चुका है। इसी समय के लगभग उत्तरी भारत में कुशान सम्राट् कनिष्क का दौर दौरा था। उनका राज्य काल ई० सन् ७८ से १२३ के लगभग माना जाता है। † कोई कोई विद्वान् ईस्वी सन् के पूर्व ५७ वर्ष इनके

* Ins. in C. P. and Berar by R. B. Hiralal Page 38 No. (45)

† V. A. Early History of India Page 255, 270 and 256

राज तिलक का समय मानते हैं।* इनका राज्य विंध्याचल तक फैला हुआ था।† भेड़ाघाट के धुआँधार में इन मूर्तियों का पाया जाना इस बात की और भी पुष्टि करता है कि राजा भूमक कनिष्क का कोई आश्रित राजा अथवा सेनापति रहा होगा जिसकी लड़की ने भेड़ाघाट की नैसर्गिक शोभा पर मुग्ध होकर ये मूर्तियाँ स्थापित कराई होंगी। कुशानों के राज्य के यहाँ होने के कुछ और प्रमाण हैं। राखालदास बैनर्जी ने भेड़ाघाट की चौसठ योगनियों की मूर्तियों को दो भागों में बाँटा है। पहिले पाँच मूर्तियाँ आती हैं। ये सब खड़ी हुई हैं, इनमें लेख नहीं हैं और ये कड़कीले लाल पत्थर की बनी हैं। इनकी बनावट के ढंग से प्रतीत होता है कि ये कुशान काल की हैं।‡ अतः मानना पड़ता है कि भेड़ाघाट के आस पास के प्रान्त पर अवश्य ही कुशानों का राज्य रहा है। इस प्रान्त में इनके अस्तित्व के चिन्ह, शुंगों, कान्वों और आंध्रों की अपेक्षा अधिक

---

* Ibid .. Page 256

† Ibid ... Page 258

‡ Quoted from V. V. Mirashi who gave us the information in a 'Note on Tripuri.'

विश्वसनीय हैं। किंतु खेद इतना है कि इन मूर्तियों के अतिरिक्त और कोई लेख आदि नहीं मिलते जिससे उस समय की परिस्थिति कुछ विशेषता से जानी जा सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कितने दिनों तक यहाँ कुशानों का राज्य रहा।

महाराज अशोक के पुत्र और पुत्री बौद्ध
धर्म के प्रचारार्थ बाहर जा रहे हैं।
(दसवीं शताब्दी)
तेवर- से प्राप्त

प्राचीन सभ्यता
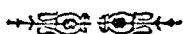
ईस्वी सन के पूर्व इस प्रदेश की क्या अवस्था थी यह जानने के लिये हमारे पास वहुत ही कम साधन हैं। वैसे तो वर्तमान महाकोशल में सैकड़ों शिलालेख मिलते हैं पर ईस्वी सन् के पूर्व का केवल एक ही है। वह है रूपनाथ का महाराज अशोक द्वारा लिखवाया शिला लेख। इसमें कोई तिथि नहीं है। इसकी भाषा और शब्द कुछ ऐसे कठिन हैं कि वहुत दिनों तक वे विवाद के विषय वने रहे। उसका अनुवाद यह है :—

" देवानांप्रिय (देवताओं के प्यारे) का यह कथन है :—
ढाई या इससे भी कुछ अधिक वर्ष होगये कि मैं प्रत्यक्ष रूप से शाक्य होगया हूं किंतु मैं विशेष उत्साहित नहीं रहा। किंतु एक वर्ष से कुछ अधिक हुआ जब कि मैंने संघ में पदार्पण किया

और तभी से मुझ में बहुत उत्साह आगया है। वे देवता जो उस समय जम्बू द्वीप में (मनुष्यों से) नहीं मिले थे अब मैंने उनसे मिला दिया है। यह मेरे उत्साह का फल है। यह केवल उच्चश्रेणी के ही मनुष्यों को नहीं प्राप्त हो सकता है किंतु एक नीच मनुष्य भी, यदि उसमें उत्साह है तो (उस), महान स्वर्ग को पा सकता है। यह घोषणा इस उद्देश्य से निकाली गई है कि गरीब और अमीर दोनों में उत्साह आजावे और मेरे सीमावर्ती लोग तक उसे जान जावें और यही उत्साह चिर-काल तक बना रहे। क्योंकि मैं इस बात में उन्नति कराऊंगा और पर्याप्त उन्नति कराऊंगा; कम से कम डेवढ़ी उन्नत हो जावेगी। और तुम लोग जहां जहां भी मौका देखो यह बात शिलाओं पर खुदवा दो। और यहां जहां कहीं भी पत्थर के खम्भे हों, पत्थर के खभों पर ही खुदवा देनी चाहिये। और इस घोषणा की आज्ञा के अनुसार तुम (विरोधी संघ या धर्म के) साधुओं को अपने जिले की सीमा के बाहर निकाल दो। यह घोषणा रात भर प्रार्थना करने के उपरान्त मेरे द्वारा निकाली गई है। तब तक प्रार्थना में २५६ रातें बीत चुकी थीं।" *

---

* Devanam priya (the beloved of gods) speaks thus :—

Two and a half years and some what more have

रूप नाथ के शिला-लेख का संस्कृत अनुवाद

देवानांप्रियः एवं आह:-सातिरेकाणि सार्धद्वयानि वर्षाणि अस्मि अहं श्रावकः न तु वाढ़ं प्रकान्तः। सातिरेकः तु संवत्सरः यत् अस्मि संघं उपेतः वाढ़ं तु प्रकान्तः। ये अमुस्मै कालाय जम्बूद्वीपे अमृपा देवाः अभूवन् ते इदानीं मृपा कृताः। प्रक्रमस्य हि इदं फलम्। न तु इदं महत्तया (एव) प्राप्तव्यम्। क्षुद्रकेण हि केनापि प्रक्रममाणेन शक्यः विपुलोऽपि स्वर्गः आराधयितुम्। एतस्मै अर्थाय च श्रावणं कृतं क्षुद्रकाः च उदाराः च प्रक्रमन्तां इति। अन्ताः अपि च जानन्तु, अयं प्रक्रमः किमिति चिरस्थितिकः स्यात्। अयं हि अर्थः वर्धिष्यते, वाढ़ं वर्धिष्यते। इमं च अर्थं पर्वतेषु लेखयत परत्र इह च। सति शिलास्तंभे, शिलास्तंभे लेखितव्यः इति। एतेन च व्यंजनेन यावत्कः तावकः आहारः सर्वत्र विवंसितव्यमिति। व्युष्टेन श्रावणं कृतं २५६ सत्रविवासात्।

(जानर्दनभट्ट एम. ए:-अशोक के धर्म लेख, पृष्ठ ७१)

---

passed since I am openly a Sakya, but I had not been very zealous. But a years and somewhat more (has passed) since I have visited the Sangh (of the Buddhist clergy) and have been zealous. Those gods who at that time had been unmingled (with men) in Jambu-

यह शिला लेख रूपनाथ नामक एक स्थान में है जो कि जबलपुर जिले के बहुरीबंद नामक दूसरे अत्यन्त प्राचीन गांव के निकट है। यहां एक कोने में शिवजी की पञ्चलिंगी मूर्ति है। इसी का नाम रूपनाथ रख लिया गया है। यह कैमोर पर्वत की कगार में स्थित है और खड़ी चट्टानों में एक के ऊपर एक तीन कुण्ड बन गये हैं। जिनमें सदैव पानी भरा रहता है। यहां जनवरी महीने में तिलसंक्रान्ति को प्रति वर्ष मेला भरता है।

---

divipa have now been made by me mingled with them. For this is the fruit of zeal. And this cannot be reached by persons of high rank alone, but a lowly person is able to attain even the great heaven if he is zealous. And for the following purpose has this proclamation been issued that both lowly and the exalted may be zealous and that even my borderers may know it and that this same zeal may be of long duration. For this matter will be made by me to progress and will be made to progress atleast once and a half. And cause ye this matter to be engraved on rocks where an occasion presents itself. And where ever there are stone pillars here, it must be caused to he engraved on stone pillars. And according to the letter of this *proclamation* expel ye (Schismatic monks

भाषा और साक्षरता

यह लेख पाली भाषा में है। अतः उस समय इस प्रांत में पाली भाषा का प्रचार होना आवश्यक है। पाली सचमुच में जन साधारण की भाषा थी जिसे बौद्धों ने संस्कृत के स्थान में अपनाया था। शिलालेख का पाया जाना ही इस प्रान्त के निवासियों की साक्षरता का द्योतक है। जहां लोग अपढ़ हों वहाँ लिखित राजाज्ञाओं का प्रकाशन कोई अर्थ नहीं रखता। साक्षर लोगों की संख्या भी पर्याप्त होनी चाहिये अन्यथा रूपनाथ के लिखित आदेश से बहुत कम लोग लाभ उठा सकते और फलतः उसका शिला पर खुदवाना व्यर्थ होता। कहा नहीं जा सकता कि विद्या-प्रचार और पढ़ाने लिखाने का लोगों के पास कौनसा साधन था। सम्भवतः प्राचीन गुरु-कुल प्रणाली ही रही होगी। ब्राह्मण लोग अपने बच्चों और शिष्यों को

अपने घर पर ही पढ़ाते होंगे और उनकी माँगी हुई भिक्षा से खर्च चलाते होंगे। अथवा बौद्ध भिक्षु अपने विहारों और चैत्यों में जन साधारण के बच्चों को भी पढ़ाने का प्रबन्ध रखते होंगे। जो कुछ भी हो, कुछ ऐसे साधन अवश्य रहे हैं जिनसे जनता का कुछ अंश राज-भाषा की शिक्षा प्राप्त कर सकता था।

धर्म

ईस्वी सन् के पूर्व इस प्रान्त में ब्राह्मणीय या वैदिक धर्म का होना अधिक सम्भावी प्रतीत होता है। अशोक ने अपने शिला लेख जहाँ उनकी सबसे अधिक आवश्यकता रही होगी वहीं खुदवाये होंगे। चूँकि इनका उद्देश्य बौद्ध धर्म का उत्तरोत्तर प्रचार था अतः उन स्थानों में जहाँ कि बौद्ध धर्म का कम प्रचार हो इनका खोदा जाना अधिक स्वाभाविक और युक्तिपूर्ण है। फिर ये लेख प्रमुख मार्गों पर या तीर्थ स्थान इत्यादि मेलों की जगहों पर जनता में शीघ्र प्रचार का ध्यान रख के खोदे गये थे। इसे देखते हुए हमें अनुमान होता है कि रूपनाथ के आसपास के प्रान्त में उस समय बौद्ध धर्म का प्राबल्य नहीं था; किंतु किसी अन्य धर्मावलम्बियों का तीर्थ और मेले का स्थान था। इसका तीर्थ होना इसलिये मानते हैं कि यह आज भी एक तीर्थ

है और किसी बड़े मार्ग पर वर्तमान काल तक में स्थित नहीं है; पहिले तो रहा ही क्या होगा ! किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि कौन से धर्म वालों का यह तीर्थ था। बौद्धों का तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि भगवान् बुद्ध के जीवन की किसी घटना से इस का संबंध नहीं है, तो फिर या तो आर्यों का अथवा यहीं के कोई मूल निवासियों का होना चाहिये। जहाँ तक देखा गया है गोंड़ों भीलों आदि मूल निवासियों के कोई तीर्थों का पता नहीं लगता और न उनके कोई विशेष मेले के ही स्थान हैं। अतः यह संभावना अधिक दीखती है कि यहाँ पर ब्राह्मणीय-वैदिक धर्म पूर्ण रूप से फैला था और उसी धर्म वालों का रूपनाथ तीर्थ था। भेड़ाघाट की योगिनियों की कुशान-कालीन मूर्तियाँ और प्रागैतिहासिक राजवंशों के विषय में हमारा ज्ञान, उक्त अनुमान को और भी पुष्ट करता है।

शिल्प, व्यापार, सिक्के तथा ग्रह निर्माण कला

इस प्रान्त में जिस प्रकार उस प्राचीन काल के शिला लेख नहीं मिलते उसी प्रकार दूसरे सभ्यता-चिह्न भी अप्राप्य हैं। मूर्त्तियों में केवल धुआँधार की कुशान मूर्तियाँ और चौसठ जोगनियों के मन्दिर की पाँच मूर्तियाँ (जिनका उल्लेख पहिले किया जा चुका है) उस प्राचीन समय की बतलाई जाती हैं। ये अत्यन्त स्थूल और मोटे काम के नमूने हैं। इनमें कला

का विकास स्थानीय ढंग का न होकर कुशानों का ही है क्योंकि ये उन्हीं की वस्तुएँ हैं। हाँ सिक्के हमें अवश्य ही यहीं के और बहुत पुराने मिले हैं। सागर जिले की खुरई तहसील में खुरई से ग्यारह मील एरण नाम का एक गाँव है। वहाँ से कुछ अत्यन्त प्राचीन " पुराण या धरण " (Punch marked) सिक्के मिले हैं। ये आयताकार ताँबे के टुकड़े हैं। इनके ऊपर ' पुराण " या " धरण " सिक्कों में जैसे चिन्ह रहते हैं वे सब अंकित हैं। ' इनकी विशेषता इस बात में है कि ये विशुद्ध भारतीय मुद्राओं के सबसे उत्कृष्ट नमूने हैं।'* इनमें से कुछ में गैंदों और कटे (+) के चिन्ह हैं। ये मालवा या उज्जैन के चिन्ह कहलाते हैं।

त्रिपुरी में कुछ सिक्के ऐसे मिले हैं जिन पर कि उसका नाम लिखा है। ये ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दि के हैं। ये ताँबे के हैं और इनमें ब्राह्मी अक्षरों में नीचे से ऊपर की ओर 'तिपुरी' लिखा है। यह संस्कृत शब्द " त्रिपुरी ' का ही रूप है। इनमें सीधी ओर प्रसिद्ध ' चैत्य ' चिह्न और दूसरी ओर 'त्रिपुरी' लिखा है। †

---

* C. J. Brown writes in 'The coins of India' at page 20— They are specially interesting in that they represent highest point of perfection reached by purely Indian money.

† देखिये पुस्तक का कवर पृष्ठ

इन सिक्कों से सिद्ध होता है कि उस अत्यन्त प्राचीन काल में भी इस प्रान्त में लोग इतने बढ़े चढ़े और सभ्य थे कि समस्त हिन्दुस्तान भर से अच्छे सिक्के बना लेते थे। सिक्कों की उत्तमता किसी भी राजा की शासन-विधि को गौरव देने को पर्याप्त है, कारण कि अच्छे सिक्कों पर ही उसकी आर्थिक स्थिरता निर्भर है। एरण में प्राप्त सिक्के समस्त भारतीय सिक्कों से उत्तम हैं; अतः ये यहीं के होने चाहिये अन्यथा दूसरे स्थानों में इनके समान या इनसे बढ़कर सिक्के मिलते। इसमें कुछ सन्देह भी हो तो हो सकता है किंतु त्रिपुरी से प्राप्त सिक्कों के विषय में कोई प्रश्न भी नहीं कर सकता। इनसे यहां के लोगों की साक्षरता और भी अधिक सिद्ध होती है और उनमें यह गुण अशोक के समय के बहुत पहिले से वर्तमान प्रतीत होता है।

सिक्कों का पाया जाना किसी भी देश की व्यापारिक-उन्नति का सूचक है। जब तक लेन देन, आयात-निर्यात पर्याप्त मात्रा में न हो तब तक उनमें सुविधा करने वाले साधन अर्थात सिक्कों की कौन परवाह करता है? अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यहां के लोग व्यापारादि के नियमों में कुशल थे। सिक्कों पर त्रिपुरी का उल्लेख होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि आसपास के दूसरे नगरों या गणों में भी अपने अपने नाम के सिक्के चलते होंगे जिनसे विभेद करने के

लिये त्रिपुरी के राजा को अपनी राजधानी का नाम अंकित करना पड़ा।

उस समय के मकान अथवा मन्दिरों के भग्नावशेष अब मिलते नहीं किंतु यह कहा जा सकता है कि लोग निर्माण कला में भी अवश्य दक्ष थे। इस प्रांत के समीप ही भोपाल रियासत में सांची नाम का स्थान है। वहां पर अशोक के समय के बहुत ही सुन्दर स्तूप तथा इनके द्वार-तोरण आदि विद्यमान हैं। ये केवल सांची में ही नहीं किंतु भेलसा के आसपास लगभग बारह मील की त्रिज्या के भीतर अनेक स्थानों में मिलते हैं। इनकी संख्या लगभग साठ के है। नागौद रियासत के भारहुत नामक गांव में भी कई प्राचीन स्तूप हैं। ये भी लगभग इसी समय के हैं। इन दोनों स्थानों से इस प्रांत का सीमा बहुत समीप है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि जिस प्रकार का कारीगरी और कला के उदाहरण हमें भेलसा के आसपास तथा भारहुत में मिलते हैं वैसी हो कला इस प्रदेश में प्रचलित रही होगी। त्रिपुरी तथा एरण आदि प्राचीन नगरों में भी सांची के ढंग के तोरण आदि महलों और मन्दिरों के सजाने के काम में लाये जाते होंगे। किंतु खेद है कि यहां के सब शिल्प-चिह्न और भग्नावशेष रेल तथा वारिग मास्तरी के ठेकेदारों द्वारा हटा कर पुलों आदि में लगा दिये गये हैं। इसलिये कुछ कहा नहीं जा सकता। रूपनाथ के निकट बहुरीबंद में भी बहुत से खण्डहर हैं। शायद

खोज करने पर यहां कोई प्राचीन चिन्ह मिलें। किंतु इतना निश्चित है कि जो लोग सिक्के चला लेते थे, मूर्तियां बना लेते थे और, जैसा कि आगे बताया जावेगा, अन्य कलाओं में दक्ष थे, अच्छे मकान और मन्दिर भी अवश्य बना लेते होंगे। बिलासपुर जिले में किरारी नाम का एक गांव है। एक साल वहां के पुराने तालाब का पानी सूख गया तब तालाब की मिट्टी में गड़ा हुआ एक कलश समेत लकड़ी का खम्भा मिला। इसमें ब्राह्मी लिपि में लिखित कुछ राजकर्मचारियों के नाम मिले। इनमें से एक कर्मचारी कुलपुत्रक (Kulaputraka) उपाधिधारी है। कुलपुत्रक का अनुवाद प्रधान गृहनिर्माणिक (Chief Architect) किया गया है। इससे विदित होता है कि प्राचीन काल में गृहनिर्माणकला इतनी उन्नत थी कि उसका विभाग और कर्मचारी भी, राजाओं के द्वारा, अलग नियुक्त कर दिये जाते थे। वे लोग उसी की उन्नति और उद्योग में अपना समय लगाते थे।

सम्भवतः ईंट पत्थर के मकान बनाने के साथ ही साथ गुफा भवनों से भी मनुष्यों को प्रेम था। साधु तपस्वी इन्हीं को अधिक पसन्द करते थे। गुफाओं के उदाहरण हमें पचमढ़ी के गुफा-मन्दिरों में आज भी देखने को मिलते हैं। सरगुजा रियासत की रामगढ़ पहाड़ी में भी बहुत प्राचीन गुफायें मिलती हैं। वे

नाट्यशाला के ढंग पर निर्मित हैं। अर्धवृत्ताकार गुलाई में एक के ऊपर एक, सीढ़ियों के ढंग पर, आसनें बनी हुई हैं। ये अर्धवृत्ताकार सीढ़ियां खड़ी लकीरों से अलग अलग आसनों में विभाजित हैं। इन पर बैठकर नीचे बनाई हुई रंग भूमि का दृश्य अच्छी तरह देखा जा सकता है। यह नाट्यशाला छोटी ही है जिसमें लगभग तीस दर्शक बैठ सकते हैं। बैठने की जगह के ऊपर एक आयताकार कोठा है जिसमें दीवाल के किनारे किनारे चौड़ी बेंचें बनी हैं जिनमें कि मनुष्य ठण्ढ की रातों में थककर विश्राम लेते होंगे। प्रवेश द्वार के पास फर्श में गहरे गड्ढे हैं जिनमें पांद डालने के लिये खम्भे फंसाये जाते होंगे। भीतर नाच की मजलिस के लायक काफी जगह है। * रायपुर जिले के तुरतुरिया स्थान में बौद्ध भिक्षुणियों के रहने के स्थान [nunerics] मिलते हैं। और भी दूसरे स्थान इस प्रांत के निकट ही मिलते हैं (जैसे रामटेक की नागार्जुन-गुफा, भाण्डक चांदा जिला की दगबा-गुफा इत्यादि) जिनसे उस समय में गुफा भवनों की ओर रुचि तथा उनकी निर्माणकला का ढंग और ज्ञान प्रकट होता है।

---

* Inscriptions in C. P. & Berar by Hiralal, pages 183-184.

नाट्य ज्ञान

रामगढ़ (सरगूजा रियासत) की गुफा—नाट्यशालाओं से यहाँ के मनुष्यों का नाटक-प्रेम तथा नाट्य-शास्त्र का ज्ञान भी सिद्ध होता है। उक्त गुफा में सुतनुका नाम की किसी देवदासी अथवा अभिनेत्री का भी उल्लेख है। यह इस बात को प्रकट करता है कि स्त्रियाँ नाट्य-अभिनय में भाग लेतीं और गातीं तथा नाचती थीं। कोई कोई विद्वान इन नाट्य शालाओं का संबंध बौद्ध लोगों से जोड़ते हैं; किंतु उनमें देवदासियाँ नहीं होतीं। अतः ये यहीं के निवासियों और वैदिक धर्मावलम्बियों की माननी चाहिये।

शासन पद्धति

प्राचीन काल में यहाँ किस प्रकार की शासन प्रणाली का प्रचार था यह कहना कठिन है। जहाँ तक देखा गया है प्राचीन राजा लोग अपनी अपनी रियासतों में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित तथा उसके और पहिले के ग्रंथों में उल्लिखित शासन-व्यवस्था का देश और काल के अनुसार परिवर्तन करके उपयोग करते रहे हैं। यद्यपि कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री थे और उन्हीं के समय में रहे हैं किंतु जिस शासन-व्यवस्था का उन्होंने वर्णन किया है वह मौर्यों के समय की न होकर और भी प्राचीन है जोकि भारत में सर्वत्र व्याप्त

थी। मौर्यों की शासन प्रणाली का हमें यूनानी लेखकों से ज्ञान होता है। वह कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित प्रणाली से भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रान्त के पूर्वीय भाग (छत्तीसगढ़ की ओर) में स्थानीय शासक अपनी प्राचीन पद्धति काम में लाते थे और पश्चिमी भाग में जो कि मालवा से लगा हुआ था मौर्य शासन संस्थाओं का प्रचार हो गया था। उपरोक्त किरारी में पाये गये तालाब के खंभे में जिन अधिकारियों के नाम दिये गये हैं उनसे पता चलता है कि राज-व्यवस्था संगठित तथा सुचारु थी। प्रत्येक आवश्यक कार्य के संपादन के लिये अलग अलग विभाग थे जिनमें प्रधान कर्मचारी तथा अन्य छोटे कर्मचारियों का नियोजन था। प्रजा के रक्षण तथा स्वास्थ्य आदि का ध्यान दिया जाता था।

सेना के अधिकारियों के नाम तथा उपाधियों से पता चलता है कि सेना चतुरंगिणी थी अर्थात उसमें गज रथ, अश्वारोही तथा पदचर सैनिक रहते थे। प्रत्येक अंग के लिये एक विशेष अधिकारी रहता था जो उसका प्रबंध करता था। जैसे हाथियों का प्रबन्ध हाथविक नामक के अधिकारी के हाथ में रहता था। रथों का अफसर 'रथिक' और इसी प्रकार घोड़ों पदचरों आदि के प्रबन्धकेलिये अधिकारी थे। शस्त्रागार और गाड़ीखाने एक 'यानशालायुद्धागारिक' नामक अफसर के प्रबन्ध

में रहते थे। रसद और सामान का अधिकारी 'भाण्डागारिक' कहलाता था।

सेना में छोटे बड़े अलग अलग श्रेणियों के नायक रहते थे ये सेनानी कहलाते थे। इन सबके ऊपर महासेनानी (Commender in Chief) रहता था। सेना के अतिरिक्त कुछ नगर प्रबन्धकों के भी नाम मिलते हैं। पुलिस का प्रबंध 'नागररक्षित' कहलाने वाले पुलिस के अफसरों के हाथ में रहता था। ये आजकल के पुलिस इन्स्पेक्टरों के समान माने जाते हैं। इनके नीचे पहिरेदार रहते थे।

राज्य की ओर से बाजार की भी देखरेख और निरीक्षण किया जाता था जिससे कि कोई सड़ी गली या अखाद्य वस्तुएँ न बेची जावें। इसके लिये जो कर्मचारी रहते थे उनमें से हमें मांस की दूकानों के निरीक्षक का पता लगता है। यह 'पालिक' कहलाता था। भवन-निर्माण-कर्त्ताओं के अधिकारी कुलपुत्रक का उल्लेख पहिले ही किया जा चुका है। गौओं और जानवरों की देखरेख के लिये भी 'गोमाण्डालिक' नाम का एक अधिकारी रहता था। चिट्ठी लाने ले जाने अर्थात् डाकखाने का विभाग 'लेखहारक' कहलाने वाले कर्मचारी के नीचे रहता था।

यह तो हुआ राज्य और नगर के प्रबंध का हाल। राज-परिवार और महल के प्रबंध के लिये भी बाकायदा विभाग

और अधिकारी थे। द्वारपालों, रसोइयों, अग्निरक्षकों यहां तक कि इत्रखाने के अधिकारियों के नाम पाये जाते हैं। इन सब के हिसाब किताब और तनख्वाह के लेन देन की जांच के लिये अकाउण्टेण्ट या 'गणक' नियुक्त थे। 'गणकों' का होना प्राचीन समाज के गणित तथा हिसाब किताब संबंधी ज्ञान का परिचायक है।

ऊपर बतलाई हुई व्यवस्था एक अच्छे और उन्नत समाज का बोध कराती है। उससे यह सिद्ध होता है कि आज के दो हजार वर्ष पूर्व भी यह प्रान्त पर्याप्त उन्नत था।

पहिले कहा जा चुका है कि इस प्रान्त का पश्चिमी भाग, खासकर मालवा से लगा हुआ देश, मौर्य शासन प्रणाली का अनुसरण करता था। किंतु विद्वानों का मत है कि मौर्य काल में यह देश अर्थात् नर्मदा के कछार और विंध्याचल का सारा वन्य प्रान्त एक रक्षित राज्य के समान था। अतः यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि कहाँ तक इस प्रान्त पर मौर्य संस्थाओं और उनके सुधारों के प्रभाव पड़ने की संभावना है। इस संबंध में कुछ बातें विचारणीय हैं।

इस प्रान्त से मालवा लगा हुआ है। वहाँ की राजधानी उज्जैन में थी और बाद में विदिशा (भिलसा) नगर में आ गई थी। विदिशा के समीप ही साँची है जहाँ के स्तूप

और बौद्ध स्मारक जगत्-प्रसिद्ध हैं। महाराज अशोक स्वयं बहुत दिनों तक उज्जैन तथा मालवा के वाइसराय रहे थे। उनका विदिशा और साँची में भी आकर कुछ दिन तक रहना माना जाता है। साँची यहाँ के उत्तरी जिलों की सीमा से कुछ ही घण्टों का रास्ता है। अतः यह नहीं हो सकता कि जो संस्थाएँ पाटलिपुत्र से काठियावाड़ तक समस्त राज्य भर में व्याप्त हों, वे उसके आसन और आने जाने के प्रमुख स्थान से थोड़ी ही दूर इस प्रान्त में प्रचलित न की गई हों। अशोक ने अपनी राजाज्ञाएँ और धर्मोपदेश रूपनाथ में शिला पर अंकित करवाये और इनके उचित पालन के लिये कर्मचारी नियुक्त किये। अवश्य ही कोई कर्मचारी या तो यहाँ रहते होंगे या आते जाते रहे होंगे। अशोक सरीखा धर्म और न्यायोत्साही सम्राट्, जो कि विदेशों तक में अपना सन्देश लेकर प्रियजनों को भेज देता था, विदिशा में बैठा रहे और इस प्रान्त की ओर अपना ध्यान न दे यह असम्भव दीखता है। जहाँ उसने धर्म प्रचार के लिये यहाँ पर अपना शिला लेख खुदवाया वहाँ अपने शासन प्रचार का भी प्रबंध किया होगा। उसके धर्म और शासन साथ ही साथ जाते थे: उसका शासन धर्म के ही लिये था और धर्म प्रचार का रास्ता सुगम करने के लिये काम में लाया जाता था। उसी के प्रयत्न स्वरूप बौद्ध धर्म की इतनी [illegible]

एक ओर हमारे प्रान्त से बौद्धधर्म का केन्द्र साँची लगा हुआ है और दूसरी ओर नागौद रियासत का प्राचीन नगर भारहुत है। यह भी साँची का समकालीन माना जाता है। कौशाम्बि भी बहुत दूर नहीं है। ये सब स्थान अशोक के राज्य काल में अत्यन्त महत्वपूर्ण और शासन के केन्द्र थे। अतः यह मानना पड़ता है कि इनकी महत्ता और निकटता के कारण हमारे प्रान्त पर बौद्ध धर्म और मौर्य शासन प्रणाली तथा दूसरी संस्थाओं का अवश्य प्रभाव पड़ा होगा। अशोक के समय में डाली गई इसी नींव पर आगे जाकर बौद्ध-धर्म का भारी महल बना जिसके भग्नावशेष हमें यहां वहाँ पड़ी हुई मूर्तियों में मिलते हैं।

मौर्य शासन प्रणाली

मौर्य शासन प्रणाली प्रसिद्ध ही है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि राज्य के समस्त विभागों का काम समित्तियों द्वारा होता था। प्रत्येक समिति में पाँच पाँच सदस्य रहते थे जो कि (निर्वाचित न होकर) राज-कर्मचारी ही रहते थे। ये समितियाँ केवल सेना विभाग में ही नहीं थीं (जैसा कि प्रसिद्ध है) किंतु नगरों का प्रबंध भी ऐसी ही संस्थाओं के द्वारा होता था। इनके बहुत से कामों में से जन्म मृत्यु का लेखा रखना विशेष उल्लेखनीय है। व्यापार-वाणिज्य, मापतौल के बाँटों और बिक्री की चीजों पर विशेष ध्यान रखा जाता था। विना सरकारी

मंजूरी के कोई भी पुराना माल नहीं बेचा जा सकता था और न गिरवी रखा जा सकता था।

राज्य का विस्तार बहुत था; इसलिये दूर के प्रान्तों में राजधानी के ही पुरुष वाइसराय नियुक्त किये जाते थे। राजा को गुप्तचरों के द्वारा खबर मिलती थी। इनकी बड़ी अच्छी व्यवस्था थी। दण्ड विधान बहुत कड़ा था। छोटे छोटे से अपराधों के लिये प्राण दण्ड की सजा थी। किंतु मेगास्थनीज लिखता है कि जुर्म बहुत कम होते थे। अतः इस कड़ी सजा का बुरा प्रभाव नहीं होता।था।

राजा जमीन की आय का चौथाई भागलेता था। जमीन के माप और सिंचाई का इतना अच्छा प्रवंध था कि दूरस्थ काठियावाड़ तक में आवपाशी के लिये तालाव बनवाये जाने का उल्लेख मिलता है। जनता के लिये इतने ही सुभाते नहीं थे। मनुष्यों के अलावा पशुओं तक के लिये औषधालय थे। यदि कोई अज्ञात व्यक्ति मर जाता था तो राज्य की ओर से उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करवा दी जाती थी। राज्य में वड़ी वड़ी सड़कें थीं। इनके किनारे लगभग आध आध कोस (२००० गज) पर खम्भे गड़े रहते थे। और भी अनेक बातें मौर्य शासन के विषय में प्रसिद्ध हैं। किन्तु कहा नहीं जासकता कि इनमें से कौन कौन इस प्रान्त को प्राप्त थीं।

४

गुप्त काल
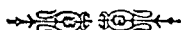
ईसा की पहिली तीन शताब्दियाँ भारतीय इतिहास में अन्धकार पूर्ण मानी जाती है। चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में ही एक महान् राजवंश का उदय हुआ—यह था प्रसिद्ध गुप्तवंश। इसके आदि पुरुष श्रीगुप्त माने जाते हैं। ये पाटलिपुत्र के आसपास एक छोटे से राज्य के या तो अधिपति थे अथवा अन्य किसी राज्य के अधीनस्थ एक माण्डलिक। इनके वंश में इनका पौत्र चन्द्रगुप्त प्रथम अत्यन्त पराक्रमी हुआ। उसने वैशाली के प्रसिद्ध लिच्छवि वंश के क्षत्रियों से अपना संबंध किया और उनकी कन्या कुमारदेवी को विवाह लिया। इनकी कई सन्तानें हुई जिनमें समुद्रगुप्त सब से योग्य थे। अतः

चन्द्रगुप्त ने मरते समय अपने मंत्रियों तथा दूसरे अधिकारियों को बुलाकर उन सब के सामने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। यद्यपि समुद्रगुप्त अपने भाइयों में सब से बड़े नहीं थे तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ने कोई आपत्ति नहीं की।

हमें समुद्रगुप्त के केवल दो शिला लेख मिलते हैं। एक तो है अलाहाबाद के किले में विद्यमान इनका प्रसिद्ध कीर्तिस्तम्भ और दूसरा हमारे प्रान्त के सागर जिले के एरण नामक गाँव से प्राप्त एक शिला-खण्ड। यह आजकल कलकत्ते के भारतीय संग्रहालय (Indian Museum) में सुरक्षित है। केवल इन्हीं दो लेखों के आधार पर, तथा कुछ सिक्कों की सहायता से समुद्र गुप्त का जीवन-वृत्त तथा इतिहास प्राप्त होता है। प्रयाग के स्तम्भ लेख में सम्राट् समुद्र गुप्त की दिग्विजय का विशद वर्णन है। पहिले तो उसने आर्यावर्त के समस्त राजाओं को पराजित किया और फिर वह दिग्विजय को दक्षिण की ओर बढ़ा। आर्यावर्त उत्तरी हिन्दुस्थान का प्राचीन नाम है। विंध्य प्रदेश के सभी राजाओं को हराने के बाद उसने कोशल पर चढ़ाई की। 'कोशल' से महाकोशल या दक्षिण कोशल अर्थात पूर्व चेदि (छत्तीसगढ़) का अभिप्राय है। उस समय यहाँ महेन्द्र नाम का कोई राजा राज्य करता था जिसे समुद्रगुप्त ने

पराजित किया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है अमरकण्टक और महानदी के ऊपरी भाग का समस्त देश महाकोशल कहलाता था। यहाँ की राजधानी श्रीपुर थी। यह गाँव महानदी के किनारे रायपुर जिले में अभी भी इसी नाम से विद्यमान है। प्राचीन मकानों आदि के भग्नावशेष यहाँ वहुत से पाये जाते हैं जिनसे कि इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

कोशल जीतने के उपरान्त समुद्र गुप्त पश्चिम को मुड़ा और वहाँ महाकान्तार के राजा व्याघ्रराज को हराया। महाकान्तार से अभिप्राय सम्भवतः सतपुड़ा के घने वनों से है जिसमें कि वर्तमान बैतूल, छिन्दवाड़ा आदि जंगली जिले सम्मिलित हैं। * यहाँ के राजा व्याघ्रदेव को अपने वल का वहुत गर्व था इसलिये वह समुद्रगुप्त से भिड़ गया किंतु हार जाने के वाद उसने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली। अतः वह छोड़ दिया गया और उसका राज्य भी लौटा दिया गया। ऐसा ही व्यवहार श्रीपुर के राजा महेन्द्र के साथ किया गया था। समुद्रगुप्त ने उसे भी उसका कोशल का राज्य लौटा दिया था जैसा कि रघुवंश में कालिदास के वर्णन से भी प्रगट

---

* Journal of Royal Asiatic Society 1897

होता है।* समुद्रगुप्त नम्रता दिखाने पर कठोर व्यवहार नहीं करता था।

प्रयाग की प्रशस्ति ई० सन् ३५० के लगभग की मानी जाती है। यह समुद्रगुप्त ने अपनी यात्रा के उपरान्त प्रकाशित कराई थी। एरण का शिलालेख इसके वहुत पीछे का है। इसका समय अश्वमेध के वाद लगभग ई० सन् ३६५ के माना जाता है। मालूम पड़ता है कि यह समुद्रगुप्त की वृद्धावस्था में लिखवाया गया था। इस में समुद्रगुप्त की महारानी की वड़ी प्रशंसा की गई है। उसे अत्यन्त उच्च कुल की कन्या, पतिव्रता, पुत्र-पौत्रों से परिपूर्ण तथा सुखो वताया गया है। समुद्रगुप्त की भी खूव प्रशंसा की गई है। उसका पराक्रम ऐसा है कि शत्रु स्वप्न में भी स्मरण करके चौंक पड़ते हैं। इसमें समुद्रगुप्त के स्वर्णदान का उल्लेख है। इस शिलालेख में एरण का प्राचीन नाम एरिकिण लिखा है। यहाँ पर उसने एक विशाल भवन (सम्भवतः विष्णु का मन्दिर) वनवाया था।† वह तो गिर गया किन्तु उसके स्थान पर अभी तक विष्णु की वड़ी भारी मूर्ति रखी है।

---

* गृहीतप्रतियुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रराजस्य जहार न तु मेदिनीम्॥
(रघु० सं. ४ श्लो० ४३)

† Ins. in C. P. and Berar page 47

इन दो लेखों से पता चलता है कि सम्भवतः सम्राट् समुद्रगुप्त एरण में स्वयं आकर ठहरे थे। अन्यथा यह क्यों लिखा जाता कि यह स्थान उनको वहुत रुचता था। * जान पड़ता है कि पहिली वार, जव वे दिग्विजय को निकले थे, तव इस स्थान को देखते गये थे। उपरांत अपना राज्य दृढ़ता से स्थापित कर और सव वाधाओं से निवृत्त होकर पुत्र-पौत्रों से परिपूर्ण होने पर, यहां फिर आये और कुछ दिन रहे। इसी समय यहां विष्णु का मन्दिर वनवाकर उनकी प्राण-प्रतिष्ठा करवाई जिसका कि एरण के शिलालेख में उल्लेख है। उस समय एरण अवश्य ही कोई वड़ा प्रसिद्ध नगर था। यहां प्राचीन सिक्कों और दूसरे लेखों का पाया जाना इस वात को और भी सिद्ध करता है। आसपास के प्रांत (सागर दमोह इत्यादि जिले और मालवा तथा वुंदेलखण्ड का कुछ भाग) की यह राजधानी होगी। यहां तक का शासन सीधा गुप्तवंश के हाथ में होगा तभी तो स्वयं सम्राट् यहां आकर ठहरे और अपना लेख खुदवाया। सारांश यह कि जिस प्रकार मौर्यकाल में उज्जैन और शुंगकाल में विदिशा पश्चिमीय प्रान्तों की राजधानी थी, समुद्रगुप्त के समय में एरिकिण या एरण उसी प्रकार पूर्व मालवा और इस प्रांत के उत्तरी जिलों की राजधानी था।

---

* एरण के शिलालेख में एरण को 'स्वभोग नगर' कहा है।

बाकी के प्रांत पर महाकोशल के महेन्द्र और महाकान्तार के व्याघ्रदेव अपना अधिकार जमाये थे।

समुद्रगुप्त के उपरान्त उनके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय को सिंहासन मिला। ये अपने पिता से भी बढ़कर निकले। उनके समय में राज्य की सीमा और बढ़ गई थी। यह प्रांत भी उनके अधिकार में था। ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के उपरांत लगभग ई० सन् ५१० या ५११ तक थोड़े बहुत परिवर्तन से यहां लगातार गुप्तों का राज्य रहा आया है। यह बात एरण से प्राप्त कुछ दूसरे शिला लेखों से विदित होती है।

एरण में समुद्रगुप्त के उपर्युक्त शिलालेख के अतिरिक्त चारलेख और भी विद्यमान हैं। इनमें से एक ईस्वी सन ४८४-८५ का है। यह वर्णन करता है कि 'बुद्धगुप्त के अधीनस्थ कालिंदी और नर्मदा के मध्यवर्ती प्रांत के राजा सुरश्मिचन्द्र के समय में आषाढ़ शुक्ला द्वादशी (गुप्त) संवत् १६५ को महाराज मातृविष्णु और उनके अनुज धान्यविष्णु ने एक ध्वजा स्तम्भ बनवाकर भगवान् विष्णु को अर्पण किया।' *

इस शिलालेख में जिन राजा बुद्धगुप्त का उल्लेख है वे मालवा के राजा थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त

---

* Ins. in C. P. & Berar page 48

प्रथम के उपरांत गुप्तों की एक शाखा ने मालवा में अपना स्वतन्त्र साम्राज्य स्थापित कर लिया था। महाराज मातृविष्णु के शिलालेख में इसी शाखा के एक राजा बुद्धगुप्त का उल्लेख है। सुरश्मिचन्द्र इसके आश्रित राजा थे और मातृविष्णु सुरश्मिचन्द्र के नीचे केवल एक स्थानीय जागीरदार अथवा माण्डलिक थे। अतः यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि समुद्रगुप्त के समय से बुद्धगुप्त के समय तक अर्थात् सन ३६५ से ४८५ तक इस प्रांत के उत्तरी भाग में गुप्त-राज्य रहा।

इस लेख के बाद का गुप्त संवत् १९१ (ई० सन् ५१०-११) का एक दूसरा लेख है। इसमें उल्लेख है कि 'भानुगुप्त नामक पार्थ के समान महाबली एक राजा यहां आया। एरण के समीप ही एक भीषण युद्ध में उसका सेनापति गोपराज मारा गया। उसकी स्त्री अपने पति के साथ वहीं पर सती हो गई।' * इस लेख से यह पता चलता है कि बुद्धगुप्त के पुत्र भानुगुप्त के समय तक अर्थात् सन् ५१०-११ तक इस प्रांत पर गुप्तों का अधिपत्य रहा। किंतु यहां पर एक कठिनाई खड़ी होजाती है। वह यह कि एरण ही में एक बड़ा भारी वाराह मूर्ति है जिसके वक्ष पर एक लेख खुदा है कि 'मातृविष्णु की मृत्यु के उपरांत उसके छोटे भाई धान्यविष्णु ने हूण महाराज तोरमाण के राज्य

---

* Ins. in C. P. & Berar page 48

काल की प्रथम वर्ष के फाल्गुन मास की दसवीं तिथि को वाराह भगवान का एक मन्दिर निर्मित करवाया।'

बुद्धगुप्त के राज्यकाल के पहिले शिला लेख के समय (सन् ४८४-८५ में) मातृ विष्णु जीवित थे। किंतु इस शिलालेख के समय उनकी मृत्यु हो चुकी थी। इससे यह पता चलता है कि बुद्ध गुप्त के बाद हा तोरमाण का आधिपत्य हो गया। डा: विंसेण्टस्मिथ लिखते हैं कि ई० सन ५०० के पहिले ही तोरमाण ने मालवा में अपना शासन जमा लिया था। * अतः यह लेख ई० सन् ५०० के पहिले का होना चाहिये। ऐसी अवस्था में यह मानना पड़ेगा कि भानुगुप्त तोरमाण के आधिपत्य में एक राजा था। किंतु गोपराज की स्त्री के सती स्मारक में भानु गुप्त को अत्यन्त बलवान बतलाते हुए पार्थ से तुलना की गई है। साथ ही साथ जो तिथि दी गई है उसमें केवल गुप्त संवत् १६१ लिखा है। इन दो बातों से प्रतीत होता है कि सन् ५१०-११ में इस प्रान्त से हूणों का राज्य हट गया था और भानुगुप्त का फिर से आधिपत्य हो गया था। सम्भवत: एक बार मालवा में अपनी हार हो जाने पर और राज्य खो देने पर भानुगुप्त शांत होकर न बैठे हों किंतु बार बार हूणों को मार निकालने के लिये लड़ते रहे हों। ऐसी ही एक लड़ाई एरण के पास हुई

---

* Smith :—Early History of India page 316.

होगी जिसमें उनका सेनापति गोपराज काम आया था। सन् ५१० के लगभग तोरमाण की मृत्यु हो गई थी। अतः यह भी कहा जा सकता है कि भानुगुप्त तोरमाण के द्वारा पराजित होकर उसके जीवन काल में चुप रहे हों और उसके मरते ही सन् ५१०–११ में फिर स्वतंत्र होने के लिये बिगड़ खड़े हुए हों। कुछ भी हो, यह निश्चय है कि हूणों का आधिपत्य बहुत थोड़े दिन रहा और सन् ५१० के लगभग भानुगुप्त ने फिर इस प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। अंत में सन् ५२८ में नरसिंह बालादित्य (मगध के राजा) और यशोधर्मन् ने मिलकर तोरमाण के पुत्र मिहिरगुल को बुरी तरह हराकर मार भगाया।

———:०:———

गुप्तों के समसामयिक राजवंश

परिव्राजक वंश

जिस समय सागर-दमोह आदि मालवा के निकटस्थ प्रदेश में गुप्तों और हूणों का राज्य था जबलपुर जिले में एक दूसरा ही वंश शासन कर रहा था। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है यह प्रदेश उस समय दाभाल कहलाता था और यहाँ पर परिव्राजक वंश का राज्य था। अभी तक इस वंश के केवल चार ताम्रपत्र और एक लेख-सहित सीमा स्तम्भ मिला है। ये जबलपुर जिले के बिलहरी गाँव से साठ मील दूर उच्चकल्प (उचहरा) के पास खोह, मझगवाँ और भूमरा

में मिले हैं। भूमरा के स्तम्भ लेख से पता लगता है कि यह गाँव दोनों राज्यों की सीमा पर था। इन तीन के अतिरिक्त एक चौथा ताम्रलेख बैतूल से प्राप्त हुआ है। यह लेख महाराज संक्षोभ का है जिसका कि जिक्र पहिले अध्याय में किया जा चुका है। इसमें गुप्त संवत् १९९ (संवत्सरे शते नवनवति उत्तरे गुप्तनृपराज्यभुक्तौ) † की कार्तिक मास की दशमी (कार्तिकमास दशम्याम्) तिथि पड़ी हुई है जिसे प्रो० कीलहार्न ने ज्योतिष के हिसाब से सोमवार ता: १५ सितम्बर या आक्टोबर ई० सन् ५१८ का पर्यायवाची माना है। परिव्राजकों के दूसरे लेख गुप्त संवत् १५६ से गुप्त संवत् २०९ अर्थात् ई० सन् ४७५ से ५२८ तक के मिले हैं। गुप्त महाराज बुद्धगुप्त का शिलालेख भी इसी समय के बीच का अर्थात् सन् ४८४-८५ का है। उसमें लिखा है कि कालिंदी और नर्मदा के बीच का समस्त प्रान्त महाराज बुद्धगुप्त के अधीनस्थ सुरश्मिचन्द्र के राज्य में था। दाभाल प्रान्त जिसका कि राजा परिव्राजक महाराज संक्षोभ था वह भी नर्मदा और कालिंदी के बीच के प्रान्त में आजाता है। अतः यह प्रश्न होता है कि एक ही प्रान्त में दो राजा एक ही समय कैसे हो सकते हैं? सम्भवतः दाभाल परिव्राजकों के हाथ में रहा हो और शेष उक्त नदियों

† Ep. Ind. Vol. VIII page 287 (second line)

के बीच का प्रदेश सुरश्मिचन्द्र के अधिकार में रहा हो जो कि परिव्राजकों को केवल अपना अधीनस्थ राजा मानता हो। कोई कोई विद्वान् परिव्राजक वंश की उत्पत्ति का समय समुद्रगुप्त के दिग्विजय काल के निकट मानते हैं। उनका मत है कि समुद्रगुप्त अपने साथ में कोई परिव्राजक वंश का सेनापति लाये हों जिसे उसने दाभाल के शासन के लिये छोड़ दिया हो और उसासे परिव्राजक वंश चला। यह संभव भी दीखता है क्योंकि जब महाराज समुद्रगुप्त एरण में थे तब वहाँ का निकटवर्ती दाभाल प्रान्त अवश्य ही उनके अधिकार में रहा होगा अन्यथा वे इसे जीतने का अवश्य प्रयत्न करते जिसका कि उल्लेख एरण के शिलालेख में मिलता। किंतु शंका केवल यही है कि सन् ४७५ के पूर्व हमें परिव्राजकों के कोई चिन्ह क्यों नहीं मिलते ? कुछ भी हो यह निश्चित है कि ई० सन् ४७५ से ५२८ तक यहाँ परिव्राजकों का राज्य था और त्रिपुरी उस राज्य में केवल प्रान्त (विषय) था। इस प्रान्त के साथ साथ परिव्राजकों के दूसरे अठारह जंगली राज्य और थे। इनकी राजधानी का पता नहीं चलता कि कहाँ थी।

उच्चकल्प वंश

इनके ही राज्य से लगा हुआ उच्चकल्प के महाराजाओं का राज्य था। इनकी राजधानी नागौद रियासत के उच्चकल्प (उचहरा) नामक स्थान में थी। छः ऐसे ताम्र पत्र मिले हैं जिनसे पता चलता है कि सन् ४९३ से ५३३ तक इनका राज्य था। उच्चकल्प महाराजाओं की वंशावली में व्याघ्रदेव नामक एक राजा का नाम आता है। कहा नहीं जा सकता कि यह समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित व्याघ्रराज ही था या नहीं क्योंकि इन दोनों के समय में अन्तर बहुत पड़ जाता है। यह जान पड़ता है कि अन्त में उच्च-कल्प के महाराजा परिव्राजकों के माण्डलिक रहे हैं। इनके लेखों में भी गुप्त संवत् पड़ा है जो गुप्त राजाओं को इनका अधिपति सिद्ध करता है।

वाकाटक वंश

जिस समय नर्मदा के उत्तर के देश में परिव्राजकों और उच्चकल्पों का राज्य था, उसके दक्षिण के प्रान्त में वाकाटक नामक एक दूसरा शक्तिशाली राजवंश प्रतिष्ठित था। इस वंश के लेखों से पता चलता है कि यह लगभग सवा दो सौ वर्ष अर्थात् ई० सन् २७५ से ५०० तक राज्य करता रहा। इस वंश का संबंध उत्तर के प्रसिद्ध गुप्त वंश से था। महाराज चन्द्रगुप्त द्वीतीय (विक्रमादित्य) की पुत्री प्रभावती इस वंश के रुद्रसेन द्वितीय (सन् ३९५ से ४००) को विवाही थी। महारानी प्रभावती गुप्ता

अथवा उनके पुत्र प्रवरसेन द्वितीय के लगभग सात ताम्रलेख मिलते हैं । इनमें से पूना से प्राप्त महारानी प्रभावती का लेख गुप्तवंश की वंशावली श्रीगुप्त से लेकर चन्द्रगुप्त द्वितीय तक देता है और बतलाता है कि उनकी लड़की प्रभावती वाकाटक महाराज रुद्रसेन को विवाही गई जिनके पुत्र दिवाकरसेन और प्रवरसेन द्वितीय हुए। इससे वाकाटक वंश और गुप्त वंश का संबंध निश्चित हो जाता है। *

वाकाटक वंश का राज्य बरार, खान देश आदि नर्मदा के दक्षिण के देशों में फैला हुआ था। सिवनी, बालाघाट, छिंदवाड़ा और बैतूल जिले भी उसमें सम्मिलित थे। प्रवरसेन द्वितीय के पौत्र पृथिवीसेन द्वितीय का एक लेख अपने पिता नरेन्द्रसेन के विषय में कहता है कि उसने कोशल, मेकल और मालवा के राजाओं को हराया था और वे राजा उसकी बात मानते थे। अतः यह ज्ञात होता है कि उपरोक्त प्रांतों पर भी वाकाटक वंश का प्रभाव रहा है। किन्तु न तो नरेन्द्रसेन का और न उसके बाद वाले राजाओं का समय ज्ञात है। इस लिये यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय मालवा, मेकल और कोशल (महाकोशल) में कौन राजा राज्य करते थे।

राजर्षितुल्य कुल

छत्तीसगढ़ (महाकोशल) में सबसे पुराना ताम्रलेख

* Ep Ind. Vol XV Page 39.

एक 'राजर्षि-तुल्य कुल' के राजा भीमसेन का मिला है। इसमें तिथि गुप्त संवत् २८२ (ई० सन ६०१) की है। केवल यही एक लेख है जो छत्तीसगढ़ में गुप्त संवत् देता है। ये राजर्षि-तुल्य-कुल के लोग प्रारम्भ में गुप्त सम्राटों के अधीन थे गुप्तों का अन्त हो जाने के उपरान्त अपनी प्रथा के अनुसार गुप्त संवत् का उपयोग करते रहे।* इस लेख से विदित होता है कि परिव्राजकों के समान ये लोग भी गुप्त काल में बढे और गुप्तों के आधिपत्य में रहे। समुद्र गुप्त के आक्रमण के समय छत्तीसगढ़ में महेन्द्र नाम का एक राजा राज्य करता था। इस वंश की जो फेहरिस्त है उसमें महेन्द्र का नाम नहीं है। उसमें भीमसेन नामक उक्त लेख के लिखने वाले तथा उसके पूर्ववर्ती राजाओं के नाम दिये हैं। भीमसेन के पिता दयितवर्मन और उनके पिता भीमसेन प्रथम थे। इनके पिता का नाम विभीषण और पितामह का नाम दयिता था। दयिता के पिता सुरा नाम के कोई व्यक्ति थे। इससे अनुमान होता है कि महेन्द्र के लगभग सौ वर्ष उपरान्त यह इस वंश का उदय हुआ।

उपरोक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि गुप्त काल में महाकोशल अर्थात् छत्तीसगढ़ में पहिले महेन्द्र और बाद में राजर्षि तुल्य कुल का राज्य था। जबलपुर, नरसिंहपुर

---

* R. B. Hiralal in Ins. in C. P. and Berar.

तथा मण्डला में परिव्राजक महराजा थे। नर्मदा के दक्षिणी जिले तथा निमाड़ में खानदेश में वाकाटक महाराजाओं का शासन था। होशंगाबाद में गुप्त काल के कोई लेख नहीं मिलते। सम्भवत: यह जिला मालवा के शासक अर्थात गुप्तों और हूणों के अधिकार में रहा है।

गुप्तकालीन सभ्यता
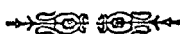
गुप्तकाल भारत के इतिहास में स्वर्ण युग माना जाता है। पाश्चात्य संसार का संबंध मौर्यों से विशेष था। उस समय की भारतीय सभ्यता को देख और उसके विषय में पढ़कर, वे लोग दंग रह गये थे। यूरोपीय विद्वान् समझ बैठे थे कि भारत में मौर्यों के उपरांत कोई विशेष उन्नति का समय नहीं आया। किंतु जब प्रयाग की प्रशस्ति पढ़ी गई और गुप्तवंश का इतिहास ज्ञात हुआ तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे इस युग को स्वर्ण-युग कहने लगे। किंतु अभी इतिहास के गर्भ में कितनी बातें विलीन हैं!

धार्मिक

मौर्यकाल बौद्ध धर्म की उन्नति और प्रसार का समय था। गुप्तकाल में हिन्दू धर्म (ब्राह्मणीय धर्म) को सहारा मिला। मृत-प्राय हिन्दू धर्म एक बार फिर राज-धर्म होगया। फलतः उसकी विशेष उन्नति हुई। महाराज समुद्रगुप्त ने स्वयं अश्वमेध यज्ञ किया और ब्राह्मणों को अमित दान दिये। उनके पहिले पुष्य-मित्र शुंग ने भी अश्वमेघ यज्ञ किया था। किंतु समुद्रगुप्त के यज्ञ में विशेषता थी। समुद्रगुप्त ने सचमुच दिग्विजय कर डाली थी। उसके विरुद्ध सिर उठाने की शक्ति किसी राजा में नहीं रह गयी थी। इसलिये उसका अश्वमेध अधिक सार्थक था। समुद्रगुप्त स्वयं विष्णु का उपासक था। एरण में जो मन्दिर निर्मित कराया था वह विष्णु मन्दिर था। अभी तक भगवान विष्णु की बड़ी भारी मूर्ति एरण में विराजमान है। एरण के बुद्धगुप्त के समय के (४८४-८५) लेख में मातृ विष्णु को अत्यन्त भगवद्भक्त लिखा है। गुप्त राजाओं के लेखों और सिक्कों में उन्हें 'परम भागवत,' परमेश्वर' आदि की उपाधियां दी हैं। इन बातों से प्रकटहोता है कि गुप्त काल में वैष्णव धर्म का विशेष सम्मान और प्रचार था। किंतु शिव की उपासना भी होती थी। वाकाटक वंशी महाराजों के लेखों में उन्हें 'परम माहेश्वर' कहके संबोधित किया गया है। तोरमाण और मिहिरगुल सूर्य और शिव की उपासना करते थे। एरण में मातृविष्णु के छोटे भाई

मान्यविष्णु ने एक वराह मूर्ति भी स्थापित की थी। और भी दूसरे देवी देवताओं की स्थापना के उदाहरण मिलते हैं। अनेक शिला लेखों और ताम्रपात्रों में ब्राह्मणों को तीर्थ स्थान अथवा नदियों के संगम पर स्नान करके दान देने का उल्लेख मिलता है। ये सब बातें उस समय की धार्मिक प्रवृतियों पर प्रकाश डालती हैं। यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि उस समय वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हो रहा था और बौद्ध धर्म क्षीण प्राय होगया था। इतना होने पर भी किसी धार्मिक अत्याचार का उल्लेख नहीं मिलता। गुप्त राजाओं द्वारा बौद्ध भिक्षुओं के सुभीते के लिये विहार आदि तक बनवाने के उल्लेख मिलते हैं। यह गुप्त काल की एक बड़ी भारी विशेषता थी। हमारे प्रांत में भी गुप्तकाल के जितने भी ताम्रलेख मिलते हैं उनसे प्रकट होता है कि यहां के राजागण वैदिक धर्म के मानने वाले थे। महाराज संक्षोभ का ताम्रलेख प्रस्तारवाटक और द्वार वाटिका नामक गाँवों में से कुछ भाग भारद्वाज गोत्रीय भानुस्वामिन् नामक ब्राह्मण को दिये जाने का उल्लेख करता है। उच्चकल्प के महाराजाओं का कारीतलाई से प्राप्त ताम्रलेख दान पत्र ही है। राजर्षितुल्य कुल के महाराज भीमसेन का ताम्रपत्र भी स्वर्णनदी में स्नान करने के उपरांत दो ऋग्वेदी ब्राह्मणों को वातपल्लिक गांव देने का उल्लेख करता है। प्रभावती गुप्त और प्रवरसेन द्वितीय के लेख इसी आशय से प्रकाशित कराये गये थे। ये सब बातें अच्छी तरह बतलाती हैं कि

उस समय ब्राह्मणों का बहुत मान था और जनता वैदिक धर्म की पालने वाली थी।

सामाजिक

गुप्त काल में वर्णव्यवस्था पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। ब्राह्मण अत्यन्त सम्माननीय माने जाते थे। क्षत्रिय आदि दूसरे वर्ण के लोग अपने निर्धारित व्यवसाय करते थे। ऊँच नीच का बाजार गर्म था चन्द्रगुप्त प्रथम को लिच्छवि वंश से सम्बन्ध कर लेने से अत्यन्त सम्मान प्राप्त हुआ था और तभी से उनकी अच्छे राजवंशों में गिनती की जाने लगी थी। यही हाल वाकाटक वंश का था। रुद्र सेन प्रथम अपने को गौतमी पुत्र कहलाने में गर्व मानता था क्योंकि उसकी माता उच्चवंशोत्पन्न महिला थी। और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं।

लोगों में बहु विवाह की प्रथा मालूम होती है। बहुत से राजा विख्यातवीरों को अपनी कन्याएँ देने में गौरव मानते थे। समुद्र गुप्त को अनेक राजाओं ने अपनी लड़कियाँ दी थीं। एरण के एक शिला लेख में भानुगुप्त के सेनानी गोपराज के मर जाने पर उनकी स्त्री के सती होने का उल्लेख है। इससे सती प्रथा के प्रचार का ज्ञान होता है। किंतु सती होना अनि-

वार्य तथा आवश्यक नहीं था। जब राजकुमार स्कन्द गुप्त हूणों को परास्त करके लौटा तो उसने अपने पिता कुमार गुप्त प्रथम को परलोक वासी पाया। अतः उसने यह हर्ष समाचार अपनी माता को ही सुनाया। इससे प्रतीत होता है कि स्त्रियों का सती होना आवश्यक नहीं था और न सती न होने वाली स्त्रियाँ बुरी समझी जाती थी। वाकाटक महाराज रुद्र सेन द्वितीय के मर जाने पर उनकी पत्नी प्रभावती सती न होकर अपने पुत्र प्रवंर सेन द्वितीय की ओर से राज सम्हालती रहीं। उनके खुद के लेख मिलते हैं।

कालिदास का समय गुप्त काल ही माना जाता है और उन्हें चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का दरबारी कवि मानते हैं। उनके ग्रंथ उस समय की सामाजिक परिस्थिति पर वहुत प्रकाश डालते हैं। उनसे स्त्रियों की परिस्थिति आदि का विशेपतया ज्ञान होता है।

गुप्त काल में समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के समय में युद्धों का लगातार सिलसिला चलता रहा। फिर स्कंद गुप्त के समय से हूणों ने आना आरंभ कर दिया। इनके साथ वरावर संघर्ष होता रहा। ये वड़े आततार्इ थे। ऐसे युद्ध और लड़ाई झगड़े के समय जनता को विशेष कष्ट रहता है और प्रजा दुःखी रहती है। तिस पर भी गुप्त काल में अत्यन्त उन्नति हुई।

गृह-निर्माण, मूर्ति, साहित्य और ललित कलाओं का अपूर्व विकास हुआ। इससे प्रतीत होता है कि युद्ध आदि के चलते रहने से साधारण समाज को विशेष हानि नहीं होती थी। राजा और उनके व्यवसायी क्षत्रिय वीर युद्ध का कार्य करते थे। शेष जनता अपना कार्य चला सकती थी।

कालिदास के कवित्व पूर्ण काव्यों और नाटकों से प्रगट होता है कि उस समय संस्कृत साहित्य कितनी उच्चता पर पहुँच चुका था।

राजनीतिक

गुप्त साम्राज्य बहुत विस्तृत राज्य था। बंगाल से लेकर काठियावाड़ और हिमालय से लेकर नर्मदा तक फैला हुआ था। इतने बड़े साम्राज्य का शासन गुप्तों के हाथ में लगभग ई० सन् ३५० से लेकर ५१० तक अर्थात् १६० वर्ष के करीब रहा। यह उनके शासन-विधान की सुचारुता तथा उनकी शासन योग्यता पर प्रकाश डालता है। यदि किसी राजा का शासन-विधान ढीला होता है तो आन्तरिक विद्रोह और क्रान्तियाँ जन्म लेती हैं। उनकी सैन्य शक्ति की क्षीणता बाहरी शत्रु को निमंत्रण देती हैं। ये दोनों ही मिलकर उसके राज्य को नष्ट भ्रष्ट कर डालते हैं। गुप्तशासन काल में आन्तरिक विद्रोहों का नाम सुनने को नहीं मिलता। जिन विदेशीय

शत्रुओं ने आक्रमण किया उनके दाँत खट्टे किये गये। अन्त में हूण गुप्त-राज्य में घुस आये थे किंतु वे भी निकालकर भगा दिये गये। यह गुप्त राजाओं की संगठन शक्ति पर प्रकाश डालता है। आवश्यकता पड़ने पर वे दूसरे राजाओं से वहुत योग्यता पूर्वक सहायता लेकर विदेशी मुह का मोड़ सकते थे। नरसिंह बालादित्य और यशोधर्मन् का संगठन इसका उदाहरण है।

गुप्त सम्राट् महाराजाधिराज, राजाधिराज, चक्रवर्ती उपाधियाँ धारण करते थे। उनका साम्राज्य दो प्रकार के मुख्य विभागों में वँटा था। एक विभाग स्वयं उनके सीधे शासन में था और दूसरा माण्डलिकों के जो कि करद जागीरदार या रियासतदार थे। एरण के लेख में सुरश्मिचन्द्र के अधिकार में यमुना और नर्मदा नदियों के बीच के देश के होने का उल्लेख है। यह गुप्तों का माण्डलिक था। परिव्राजक, उच्चकल्प और राजर्षितुल्य-कुल के राजा भी उनके माण्डलिक ही थे।

समस्त देश या राज्य प्रान्तों में विभाजित रहता था। प्रान्त शब्द के दूसरे नाम 'भोग' 'भुक्ति' "विषय" अथवा 'मण्डल' भी हैं। वैतूल के शिलालेख में * त्रिपुरी को दाभाल प्रान्त का एक 'विषय' कहा गया है। 'विषय' आदि भी

---

* Ep. India Vol. VIII page 287

छोटे छोटे विभागों में बाँटे जाते थे जिनमें कि कुछ ही गाँव रहते थे। गाँव, शासन सुविधा के लिये किये गये विभाग की अन्तिम इकाई थी। गाँवों की सीमा, लोगों के अधिकार उनके ऊपर लगने वाले कर, गोचर भूमि इत्यादि सब निश्चित रहते थे। गाँवों में सरकारी सेना अथवा अन्य पल्टनों का घुसना मना रहता था जिससे कि प्रजा की शान्ति भंग न हो। यह अधिकार खास खास गाँवों के मालिकों को दे दिया जाता था किंतु इसका ध्यान साधारणतया रखा जाता था। बदमाशों और चोरों को दण्ड देने के लिये पल्टन गाँवों में जा सकती थी। *

भारतीय सम्राट् प्राचीन काल से ही मंत्रियों के परामर्श से काम करते आये हैं। गुप्तों के समय में भी मंत्री रहते थे। उनकी एक परिषद् ही रहती थी। मंत्रियों के कई भेद थे जैसे कि

---

* महाराज संक्षोभ का बेतूल का लेख—Ep. India Vol. VIII page288—"........half of the village Prastarvataka and a quarter of Dvarvatika in the province (Vishaya) of Tripuri—in accordance with the usage of the speccification of (then) ancient boundaries— (and with the privilege that they are) not to be entered upon by irregular or regular troops except to impose fines on thieves and mischief doers."

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित हैं। मंत्रियों में संधि विग्रह के लिये एक मंत्री अलग रहता था और यह 'महासंधि विग्रहक' कहलाता था। युवराज भी एक मंत्री का काम करता था।

सेना विभाग सुसंगठित तथा उचित श्रेणियों में विभाजित था। महासेनापति सबसे बड़ा अधिकारी था। उसके नीचे दर्जे-ब-दर्जे अफसर थे और सब के नीचे साधारण सिपाही। *

अपराधों के दण्ड के लिये पुलिस का भी अच्छा प्रबंध था। पुलिस का सर्वोच्च अधिकारी "चौरोद्धरणिक" कहलाता था। दण्ड का भली प्रकार न्याय करने के लिये न्यायाधीश रहते थे। सबसे ऊपर का जज 'महासर्वदण्डनायक' कहलाता था। इसके नीचे और भी छोटे छोटे न्यायाधीश थे।

इन मुख्य मुख्य विभागों के अतिरिक्त और भी बहुत से छोटे छोटे मुहकमों का प्रबंध था। लेख संरक्षण के लिये "महाक्षपटलाधिकृत" नाम का अधिकारी था। 'दांगिक' और 'उपरिक' इन्कमटैक्स विभाग के अधिकारियों के नाम बतलाये जाते हैं। इस प्रकार के उल्लेख से पता चलता है कि राज्य शासन सुसंगठित तथा उन्नत था।

---

* गुप्त वंश का इतिहास पृष्ठ—२५६-२५७

शिल्प, वास्तु तथा मूर्ति कलाएँ

इस प्रान्त में गुप्त कालीन भग्नावशेष बहुत कम बचे हैं, किंतु जो कुछ भी है वे उस समय की कला के अच्छे उदाहरण हैं। जबलपुर जिले के तिगवाँ में और दमोह सब-डिवीजन के सकोर गाँव में, गुप्त कालीन मन्दिरों के अवशेष हैं। तिगवाँ का मन्दिर गुप्त कालीन मन्दिरों का सबसे अच्छा नमूना माना जाता है। रा० बा० हीरालाल ने उसको ठीक से देखकर लिखा है कि "यह प्रायः डेढ़ हजार वर्ष का है। यह चपटी छत वाला पत्थर का मन्दिर है। उसके गर्भगृह में नरसिंह की मूर्ति रखी है। दरवाजे में चौखट के ऊपरी ओर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ खुदी हैं। पहिले ये ऊपर बनाई जाती थीं किंतु पीछे से देहरी के निकट बनाई जाने लगीं। मन्दिर के मण्डप की दीवाल में दशभुजी चण्डी की मूर्ति खुदी है उसके नीचे शेषशायी भगवान् विष्णु का चित्र खुदा है जिनकी नाभि से निकले हुए कमल पर ब्रह्मा जी विराजमान हैं। दूसरी ओर दीवाल में जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चित्र खुदा है। जान पड़ता है यह पहिले बौद्ध मन्दिर था......।" *

सकोर के मन्दिर को मढ़ा कहते हैं। यह दस फुट लम्बा और ठीक उतना ही चौड़ा है। मन्दिर की उँचाई भी लम्बाई या

---

* जबलपुर ज्योति पृष्ठ १४०

तिगवाँ के मंदिर की चौखट पर बनी हुई
-गंगा की मूर्ति-
गुप्त काल

चौड़ाई से कुछ ही इंच कम है। छत चपटी और दीवारें चित्र रहित हैं परन्तु सफाई से कटे हुए पत्थरों की वनी हैं। थोड़ी सी कारीगिरी जो पाई जाती है वह गर्भ गृह के द्वार पर है। चौखट के मध्य भाग में एक अष्टभुजी देवी की मूर्ति है। उसके एक हाथ में डमरू है।... तलस्थान में देहरी के पास उभय ओर एक एक स्त्री की कुछ वड़ी मूर्ति है। गर्भ गृह के सामने एक छोटा सा मण्डप है।" रा० व० हीरालाल इससे निष्कर्ष निकालते हैं कि यह ख्रीष्टीय पाँचवी शताब्दी का वना है जव कि पाटलिपुत्र के महाराजाओं का राज्य था। इस मन्दिर के गुप्त कालीन होने का एक प्रमाण यह भी है कि पास ही एक खेत में गुप्त समय के २४ स्वर्ण मुद्रा मिले थे। इनमें से आठ पर समुद्र गुप्त, पंद्रह पर चन्द्रगुप्त प्रथम और एक पर स्कंदगुप्त का नाम खुदा है। हर एक सिक्के में देवी की वैसी ही मूर्ति है जैसी कि मन्दिर की चौखट पर है।*

मूर्तिकला की दृष्टि से तिगवाँ के मन्दिर की गंगा की मूर्ति अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण है। गंगा के साथ की दूसरी मूर्तियाँ भी काफी कला पूर्ण हैं। इन मूर्तियों के अतिरिक्त एरण से तेरह मील दूर पथारी नामक गाँव (भोपाल रियासत) में गुप्त-कालीन एक मन्दिर है। उसमें कृष्ण जन्म का दृश्य प्रदर्शन करने

---

* रा० वा० हीरालाल—दमोह दीपक पृष्ट १०३, १०४.।

वाला एक मूर्ति समूह है। माता देवकी की लेटी हुई हैं और सद्योत्पन्न कृष्ण उन्हीं के पास पड़े हुए हैं। पाँच पुरुष उनकी रक्षा कर रहे हैं। यह मूर्ति भारतीयकला का सर्वोत्कृष्ट नमूना माना जाता है। सौन्दर्य और कल्प की दृष्टि से यह बड़े निपुण हाथों द्वारा गढ़ी गई है।

इसी पथारी में गुप्त कालीन एक प्रस्तर स्तम्भ है। यह सैंतालीस फुट ऊँचा और बड़ा सुडौल है। एरण में मातृ-विष्णु द्वारा निर्मित (सन् ४८४-८५ का) तैंतालीस फुट ऊँचा खम्भ बुद्ध -गुप्त के समय में चतुर्भुज विष्णु के ध्वजा-स्तम्भ के रूप में खड़ा किया गया था। इसके ऊपर दो भुजा वाले किंतु दो मुख के एक पुरुष की आकृति है। इस देवता का अभी तक पता नहीं लगा। यह स्तम्भ भी बहुत अच्छा है और उस समय की कारीगरी का ज्ञान कराता है। वहीं पर एक बड़ी भारी विष्णु की मूर्ति और वाराह की दो मूर्तियां भी हैं।

इन थोड़े से ही उदाहरणों से विदित होता है कि यह प्रान्त उन दिनों शिल्प, गृह निर्माण तथा मूर्तिकला में पर्याप्त उन्नत था। दूसरी कलाओं के अवशेष अब नहीं मिलते अन्यथा वे भी उस कालकी श्रेष्ठता सिद्ध करते।

६

गुप्तोत्तरकाल
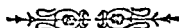
गत प्रकरण में परिव्राजक तथा उच्चकल्प वंशों का उल्लेख किया जा चुका है। इनके लेख लगभग ई० सन् ५३४-३५ तक के मिलते हैं। उसके उपरान्त इनका क्या हुआ और इनके बाद इस प्रान्त पर कौन आया इसका पता नहीं लगता। किंतु इसी समय के लगभग मध्यभारत में एक अत्यन्त प्रतापी और बलशाली राजा का उदय हुआ था। वह था महाराज यशोधर्मन्। इसने हूण सम्राट् मिहिरगुल को हरा कर भगा दिया था और उसका राज्य छीन लिया था। इसके तीन शिलालेख मिलते हैं जिनसे विदित होता है कि ब्रह्मपुत्रा से लेकर पश्चिमी समुद्र तक और हिमालय से लेकर त्रावणकोर

तक का समस्त राज्य इसकी सीमा के भीतर था। अतः प्रतीत होता है कि इसने ही परिव्राजकों और उच्चकल्पों का अन्त किया और इस प्रान्त पर अपना आधिपत्य जमा लिया। इसने सन् ५२८ में मिहिरगुल को हराया और लगभग सन् ५३६–३७ तक इस प्रान्त को अपने कब्जे में किया होगा। इसीलिये परिव्राजकों के ले . सन् ५२८ और उच्चकल्पों के ५३४-३५ के बाद नहीं मिलते।

यशोधर्मन् के उपरान्त हर्ष के समय तक इस प्रान्त की क्या दशा रही और यहाँ कौन का राज रहा यह पता नहीं चलता। किंतु सन् ६०६ में हर्षवर्धन् राजसिंहासन् पर आरूढ़ हुए। उनका राज्य नर्मदा के उत्तर तक विस्तृत था। अतः यह कहा जा सकता है कि इस प्रान्त का उत्तरी भाग उसमें सम्मिलित था।

इस समय छत्तीसगढ़ में जैसा कि पहले देखा जा चुका है राजर्षि तुल्य कुल का राज्य था। इस वंश का उल्लेख ई० सन् ६०१ तक मिला है। इसी समय अथवा इसके आस पास छत्तीसगढ़ (महाकोशल) में एक नये वंश का उदय हुआ। वह था सोमवंश अथवा अन्तिम गुप्त-वंश। इस वंश के ग्यारह राजाओं के नाम मिलते हैं किंतु समय निश्चित नहीं किया जा सकता कि कौन का राज्य कब से कब तक रहा। इस वंश का सब से पहिला पुरुष उदयन था और दूसरा

उसका ही पुत्र इन्द्रबाल। कनिंघम साहिब ने इन्द्रबाल का समय लगभग ई० सन् ३१६ के अनुमान किया है। * किंतु यह विश्वसनीय नहीं है और न दूसरे विद्वान् इसे मानते हैं। कनिंघम साहिब इस वंश को पाण्डुवंश भी मानते हैं क्योंकि कुछ लेखों में इस वंश के राजाओं ने अपने पूर्व पुरुष पाण्डव बतलाये हैं। प्रत्येक पीढ़ी को पच्चीस पच्चीस वर्ष का समय देकर आठवें राजा शिवगुप्त अथवा महाशिवगुप्त का समय वे सन् ४७५ के लगभग बतलाते हैं। रायबहादुर हीरालाल छठवें राजा महाशिवगुप्त बलार्जुन का समय लगभग ८०० ई० के मानते हैं। किंतु यह भी संदेहात्मक है। † इस वंश के लगभग नौ लेख मिलते हैं जिनसे विदित होता है कि इस वंश का विस्तार पर्याप्त रहा है और राज्य भी समस्त महाकोशल में रहा है। इनकी राजधानी श्रीपुर नगर में थी। ‡ चौथे राजा महाशिव तीव्रदेव के दो ताम्रलेख मिलते हैं। इनमें लिखा है कि 'महाशिव तीव्रदेव पाण्डुवंश के राजा नन्नादेव का पुत्र और इन्द्रबाल का पौत्र है।............उसने समस्त कोशल

---

* कनिंघम :—"सी. पी. और गंगा के दो आब में यात्रा।" पृष्ठ ८७

† हीरालाल :—इन्सक्रिपशन्स इन सी. पी. एन्ड बरार, पृष्ठ २०४

‡ रायपुर जिले का सिरपुर

(महाकोशल) पर अपना आधिपत्य जमा लिया है।' इन दो लेखों में से एक उसके राज्य काल की सातवीं और नवीं साल में प्रकाशित किया गया था। इसलिये कहा नहीं जा सकता कि इसका ठीक समय क्या था। *

इस वंश के राजत्व काल में महाकोशल, खासकर श्रीपुर अत्यन्त समृद्धिपूर्ण रहा है। यहाँ पर बहुत से मन्दिर बनवाये गये थे। उनमें से केवल दो अवशिष्ट हैं। इनमें से एक गन्धेश्वर का मन्दिर है और दूसरा लक्ष्मण-मन्दिर। इन दोनों में उक्त वंश के राजाओं के शिलालेख हैं। कुछ ऐसे भी व्यक्तियों के हैं जिन्होंने मन्दिरों को फूल माला चढ़वाने का स्थायी प्रबंध कर दिया था। किंतु इन लेखों से समय का पता नहीं चलता। श्रीपुर के लक्ष्मण-मन्दिर के महाशिवगुप्त के शिलालेख के ऊपर विचार करते हुए श्री हीरालाल साहिब लिखते हैं कि 'दूसरे शिलालेखों के समान यह भी बिना तिथि का है इसलिये उसका समय केवल उसकी लिपि से निश्चित किया जा सकता है। यह आठवीं अथवा नवीं शताब्दी की है। इसमें महाशिवगुप्त का नाम उल्लिखित है और यह नाम अभी तक प्राप्त श्रीपुर के सभी लेखों में है।

---

* तीव्रदेव के बलौदा और राजिम के ताम्रपत्र

श्रीपुर (सिरपुर) का लक्ष्मण मन्दिर
गुप्त काल (पाँचवीं सदी)
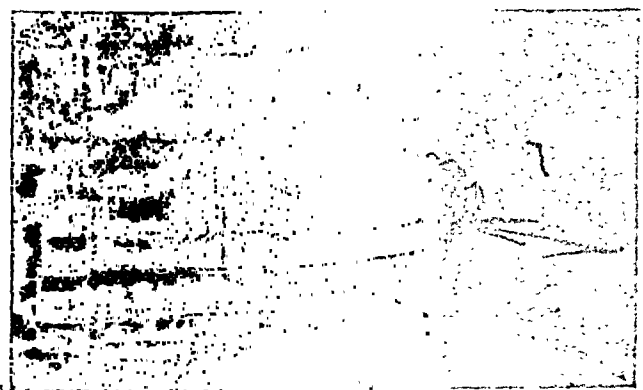
ककरा-मठ (मण्डला)
(दसवीं शताब्दी)
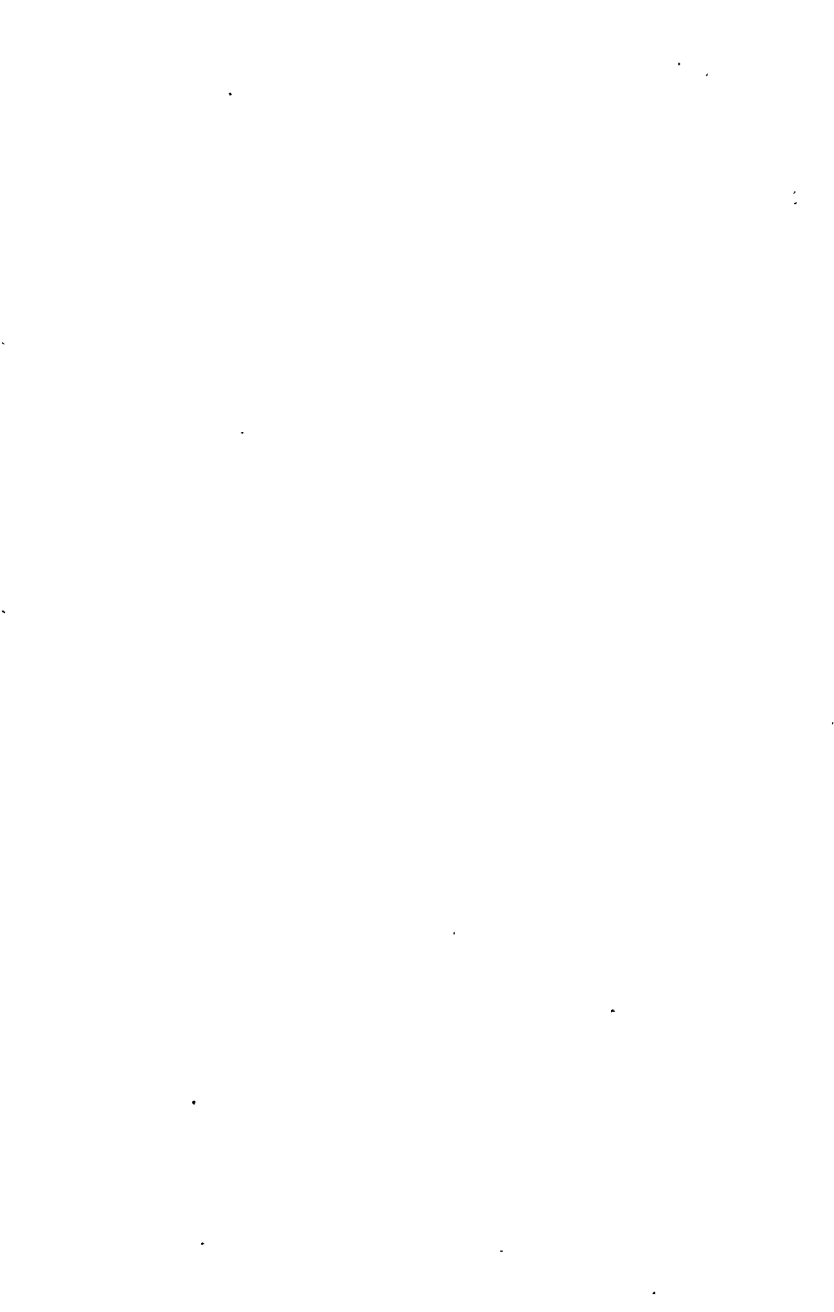
इससे विदित होता है कि महाशिवगुप्त बहुत बड़ा मन्दिर निर्माता था। वह शैव था और उसकी माता वैष्णव थी। ...' *

उपरोक्त उद्धरण से सोमवंशी अथवा महाकोशल के गुप्तवंश धर्म और कार्यों का कुछ अनुमान हो जाता है। उनके राज्य के विस्तार और राजधानी के विषय में पहिले ही कहा जा चुका है। यदि उक्त राजा का समय हीरालाल साहिब के मतानुसार लगभग सन् ८०० के मान लिया जावे तो इस वंश का अन्तिम राजा महाभवगुप्त भी भीमरथ (जो कि इस वंश में ग्यारहवाँ था) का समय, प्रत्येक पीढ़ी को पच्चीस पच्चीस वर्ष देते हुए लगभग सन् ६२५ के मान सकते हैं। इसी समय के लगभग महाकोशल में कलचुरियों (रत्नपुर) की शाखा का उदय होता है जिन्होंने कि सम्भवतः सोमवंशी (अथवा गुप्तवंशी) राजाओं को हटाकर अपना राज्य स्थापित किया था।

---

* हीरालाल :—इन्स. इन सी. पी. एन्ड बरार पृष्ट १००

कलचुरि-वंश
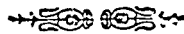
पंचम अध्याय में परिव्राजक वंश का उल्लेख किया जा चुका है। तदुपरान्त हमें यशोधर्मन् और हर्ष के शासन का पता लगता है। किंतु ये चक्रवर्ती सम्राट् थे और अपनी अपनी राजधानियों से दूसरे प्रान्तों का शासन करते थे। स्थानीय शासन दूसरे व्यक्तियों के हाथ में रहता था। यह पता नहीं है कि वे कौन से वंश अथवा व्यक्ति थे जिनके हाथ में यहाँ का शासन ई० सन् ५२८-२९ से लेकर ई० सन ८७५ के लगभग तक रहा।

ई० सन ८७५ के लगभग कलचुरि-वंश के प्रवर्तक महाराज कोकल्लदेव के राजत्व का पता लगता है। इसके पूर्व

कलचुरियों का क्या इतिहास था यह विषय अनिश्चित तथा विवाद पूर्ण है। डाक्टर फ्लीट का मत है कि उच्चकल्प के महाराजा सम्भवतः कलचुरियों के अधीनस्थ थे। * इस आधार पर यह अनुमान होता है कि उच्चकल्प के महाराजाओं के अस्तित्व काल में (सन् ४९३ से ५३४ तक) कलचुरि वंश पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित तथा विस्तृत हो चुका था। तभी तो उसके माण्डलिक हो सकते थे। किंतु इसी समय में हमें डाभाल और त्रिपुरी में परिव्राजकों के होने के प्रमाण मिलते हैं। अतः उक्त कलचुरि वंश (जिसके कि माण्डलिक उच्चकल्प के महाराजा थे) त्रिपुरी का कलचुरि वंश नहीं हो सकता। उस समय उस वंश की राजधानी त्रिटासौर्य नामक एक अन्य स्थान में होने का अनुमान किया जाता है। यह त्रिटासौर्य कहाँ था यह ज्ञात नहीं है।

कलचुरि महाराजा अपने को हैहयवंशी भी कहते थे। हैहयों के आदि पुरुष सहस्रार्जुन या कार्त्तवीर्य थे। इनकी राजधानी माहिष्मती थी। † यहाँ पर कलचुरि वंश बहुत दिनों तक रहा और यहीं से उनकी एक शाखा त्रिपुरी में आकर बस गई ऐसा अनुमान किया जाता है। अब ये कब और

---

* Corpus Inscriptionum Indicarum : — Introduction pp. 8-9 and Vol. III arts 23, 28, 30 and 31.

† महाभारत में उसे अनूपपति कहा है। शायद यह प्रान्त का नाम होगा (म. वन. अ. ११६)

कैसे त्रिपुरी आये यह नहीं कहा जा सकता। रा० ब० हीरालाल का अनुमान है कि मान्धाता के हैहयों में मन मुटाव हो जाने से एक शाखा ने दूसरी जगह जाने का निश्चय किया होगा किंतु वे नर्मदा का तट तथा माहिष्मती का स्वाभाविक सौन्दर्य नहीं छोड़ना चाहते होंगे। ये दोनों बातें उन्हें त्रिपुरी के निकट भेड़ाघाट में प्राप्त हो गईं। अतः वे यहाँ आकर बस गये और त्रिपुरी नगर की नींव डाली। किंतु यह केवल अनुमान है जिसपर कि विद्वान् विचार करें। त्रिपुरी में जो सिक्के मिलते हैं उनसे ज्ञात होता है कि ईस्वी सन् के तीन सौ वर्ष पूर्व त्रिपुरी विद्यमान थी। अतः यदि कलचुरियों ने त्रिपुरी को बसाया तो वे यहाँ ईस्वी सन् के तीन सौ वर्ष पूर्व आगये होंगे। किंतु इस बात का अभी कोई भी प्रमाण नहीं है।

जिस संवत् का कलचुरि राजा उपयोग करते थे उसका आरम्भ सन् ई० की २४८वीं साल में होता है। अतः यह वर्ष कलचुरि वंश के इतिहास में अत्यन्त महत्व पूर्ण होना चाहिये। या तो किसी कलचुरि राजा ने कोई बड़ी लड़ाई में शत्रु को पराजित किया होगा या किसी पूर्व-पुरुष का राज-तिलक हुआ होगा। विद्वानों का * मत है कि यह संवत् आभीर वंश के राजा

* Hiralal:—Ins. Annals of the Bhandarkar Oriental Research institute' page 284-285.
Ins. in C. P. & Berar page 205 and Jubbulpore gazetteer page 41.

ईश्वरदत्त का चलाया हुआ है जिसकी कि राजधानी त्रिकूट थी। किंतु राजवंशों में दूसरे वंशों के संवत् लेकर उन्हें अपने वंश का नाम देने की प्रथा प्रचलित नहीं दिखती। फिर वेचारे कलचुरियों को क्यों ऐसी चोरी लगाई जावे? हीरालाल साहिब ने इसके विरुद्ध पर्याप्त प्रमाण दिये हैं।

यद्यपि कलचुरि संवत् का आरम्भ सन् २४८ में होता है उनके लेख दसवीं शताब्दी तक नहीं मिलते। दूसरे वंशों के लेखों में उनका उल्लेख अवश्य है। सबसे पहिले कलचुरि राजा जिनका कि उल्लेख मिलता है बुद्धराज थे। इनका समय ई० सन् ५८० के लगभग माना जाता है। ये शंकरगण नामक राजा के पुत्र थे। इनके भी पहिले कोई काकवर्ण नामक कलचुरि राजा हो गये हैं। उनका उल्लेख है।

ईसा की छठवीं और सातवीं शताब्दि में कलचुरियों ने विस्तृत साम्राज्य जमा लिया था। यह मालवा और गुजरात तक उत्तर में और दक्षिण में कनाड़ा और आंध्र की उत्तरी सीमा तक, फैला हुआ था। इस विशाल राज्य की राजधानी माहिष्मती थी। वदामी के चालुक्यों के उत्थान के कारण कल-चुरियों का प्रताप कुछ समय के लिये क्षीण सा हो गया था। सातवीं शताब्दी और उसके बाद चालुक्यों का जोर दक्षिण में और भी बढ़ा। इसके ही बाद राष्ट्र कूट आये। अतः कल-

चुरियों ने दक्षिण से अपना संबंध तोड़कर उत्तर की ओर, खासकर डाभाल में, अपना पाया जमाना आरम्भ कर दिया। सम्भवतः इसी समय कलचुरियों ने त्रिपुरी को अपनी राजधानी बनाया। त्रिपुरी के इस वंश की नींव डालने वाला वामदेव नाम का एक राजा था जिसने अपने राज्य का खूब विस्तार किया और 'परमभट्टारक,' 'महाराजाधिराज' और 'परमेश्वर' की उपाधियाँ धारण कीं। इस राजा ने कलचुरि वंश की बहुत उन्नति की अतः इसको सब कलचुरि राजा मान करते थे और अपने शिलालेखों के शीर्षाङ्क में उल्लेख किया करते थे। इस वंश के सब से प्राचीन शिलालेख सागर-नगर तथा जबलपुर जिले के छोटी देवरी नामक गाँव में मिले हैं। *

जयसिंहदेव के ताम्रलेख में उपरोक्त वामदेव का उल्लेख इस प्रकार आया है :—'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री वामदेव पादानुध्यात······' इत्यादि। इससे प्रो. मिराशी का कथन पुष्ट होता है। अन्य शिलालेखों में भी इसी प्रकार उल्लेख है। 'परमभट्टारक' इत्यादि की उपाधियाँ अन्य कलचुरि राजाओं की प्रसिद्ध उपाधियाँ थीं।

---

* Prof. V. V. Mirashi:—'A note on Tripuri.'

वामदेव के विषय में उनकी उपाधियाँ तथा नाम छोड़ कर विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं है। रा० ब० गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझाने सोलं-कियों के इतिहास में चेदि देश के राजा बुद्ध वर्मन का उल्लेख किया है। इसका समय ई० सन ५६१ के लगभग आता है। वामदेव के समान इसके विषय में भी विशेष जानकारी नहीं है। केवल यही मालूम है कि मंगलीश चालुक्य ने इन्हें पराजित करके इनकी राज्यलक्ष्मी छीनी थी। इनके पिता का नाम शंकरगण था। किंतु जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं लगभग सन् ५८० के कलचुरियों के पूर्वज बुद्धराज का भी नाम मिलता है। उनके भी पिता का नाम शंकर गण था, अतः यह प्रतीत होता है कि ओझा जी ने जिस बुद्ध वर्मन का उल्लेख किया है वह बुद्ध राज ही है। ये सम्भवतः छठवीं शताब्दी के अन्त तक गद्दी पर रहे। वामदेव उसके उपरान्त उत्पन्न हुए और उनने अपने राज्य का विस्तार किया। किंतु वामदेव के समय का निश्चय न होने से यह केवल अनुमान ही है।

कलचुरिवंश का सबसे पहिले और विख्यात पुरुष, जिसका कि हम समय और ऐतिहासिक विवरण कुछ दृढ़ता से दे सकते हैं, कोकल्लदेव (प्रथम) हुए हैं। इनका समय सन् ८६० से लेकर ९०० के बीच में आता है। कोकल्लदेव से लगातार कलचुरिवंश की वंशावली मिलती जाती है। कोकल्लदेव के

वंशजों की मुख्य शाखा त्रिपुरी में राज्य करती थी। रतनपुर और रायपुर में दूसरी शाखाएँ थीं।

त्रिपुरी की शाखा का राज्य लगभग बारहवीं शताब्दी के अन्त तक रहा आया। इसमें कोकल्लदेव समेत पन्द्रह राजा माने जाते हैं। अन्तिम राजा विजयसिंह देव थे। इनके पुत्र अजय सिंह देव हुए। इनके राजत्व काल का कुछ पता नहीं मिलता। इनके समय में चन्देलों और पवाँरों ने विशेष उपद्रव किये थे, सम्भवतः जिसके ही फलस्वरूप त्रिपुरी के कलचुरि वंश का अस्त हुआ। इस वंश का विशेष वर्णन अगले प्रकरण में किया जावेगा।

रतनपुर का कलचुरि वंश

कोकल्लदेव के अठारह पुत्र थे। उनमें से एक तो त्रिपुरी की गद्दी का अधिकारी हुआ और बाकी अलग २ मण्डलों के शासक (अथवा माण्डलिक) हुए। इनमें से एक का नाम कलिंगराज था। वह राजधानी छोड़कर दक्षिण कोशल को चला गया और तुम्माण में जाकर पहिले पहल बसा। * रतनपुर के शिलालेख में कलिंग

---

* Ep. Ind Vol. I, pages 32 pp. :—Ratanpur stone inscription.

प्राप्ते तस्य कलिंगराजनृपतेर्वंशः क्रमादानुजः। पुत्रं शत्रुकलत्रनेत्रसलिल स्फीतं प्रतापद्रुमम्। क्षोणीं दक्षिणकोशलो जनपदो बाहुद्वयेनार्जितः।
Ep. Ind. Vol. XIX pp. 75 ff.

राज का पुत्र कमलराज और पौत्र रत्नराज बतलाया गया है। इस रत्नराज ने (रत्नपुर) रतनपुर बसाया। इसने कोमो मण्डल के राजा वज्जूक की पुत्री नोनल्ला से व्याह किया। इनका पुत्र पृथ्वीदेव हुआ और उसका पुत्र जाजल्लदेव जिसका कि उक्त शिलालेख है। यह आठ नवम्बर सन् १११४ का है। ऐसी ही वंशावली पृथ्वीदेव के अमोदा से प्राप्त ताम्रलेख में दी गई है। इनके आधार पर त्रिपुरी तथा रतनपुर की शाखाओं का संबंध स्थापित हो जाता है। इस शाखा में छत्तीस राजा हुए हैं जिनका कि समय सन् ९०० के करीब से सन् १७३२ तक जाता है। अन्तिम राजा रघुनाथ सिंह था। इसका अन्त मरहठों के हाथों से हुआ।

रायपुर की शाखा

तुम्माण से एक शाखा फूटकर रायपुर जिले के खलारी नामक गाँव में बस गई। यह घटना चौदहवीं सदी में हुई। इस शाखा का सबसे पहिला पुरुष लक्ष्मीदेव था। इसकी तिथि निश्चित नहीं है। चौथा पुरुष ब्रह्मदेव था। इसका समय सन् १४०२ के लगभग माना जाता है। इस समय से रतनपुर की शाखा के साथ साथ यह शाखा भी चलती रही। इसमें इक्कीस पीढ़ियाँ हुईं। अन्तिम राजा अमरसिंह देव को भोंसलों ने सन् १७३५ में हराकर उसका राज्य छीन लिया। तब से इस शाखा का अन्त हो गया।

कल्याण की शाखा

कल्याण की शाखा बहुत थोड़े दिन तक चली। इस शाखा के राजा अपने को कालिंजरपुरवराधीश्वर की उपाधि से विभूषित करते थे। चेदि (अथवा दाभाल) के कलचुरि भी कलिंजर के स्वामी थे। सम्भवतः कालिंजर उनकी राजधानी भी थी। इस उपाधि के आधार पर यह प्रतीत होता है कि कल्याण के कलचुरि चेदि या त्रिपुरी के कलचुरियों की केवल एक शाखा मात्र थे। सर रा० गो० भण्डारकर का भी यही मत है।* इस शाखा में विज्जन नाम प्रसिद्ध पुरुष हो गया है। उसके पिता का नाम परमार्दिन् था। विज्जन पहिले एक छोटेसे राज्य का अधिपति (माहामण्डलेश्वर) था और जगदेकमल्ल के आधीन था। बाद में अपने ऊपर के राजा को मार कर स्वयं राजा बन बैठा। यह वंश बहुत थोड़े दिन चला। एक धार्मिक क्रांति में उसका नाश हो गया। इस वंश के विषय में एक बात उल्लेखनीय है। विज्जन के उपरान्त उसका पुत्र सोम गद्दी पर बैठा। यह बड़ा वीर तथा पराक्रमी था बेलगांव के कलचुरि-ताम्रपत्र में इसकी बहुत प्रशंसा की है। यह ताम्रपत्र एक कलचुरि महारानी द्वारा दिए हुए दान का उल्लेख करता है। राजदरबार में बड़े बड़े राजा और प्रख्यात पुरुष बैठे थे। बहुत से संगीताचार्य और

---

* Coll. Works of Sir R. G. B. Vol. III page 128.

वाद्याचार्य अपने गायन वादन सुना रहे थे। ऐसे समय में स्वयं महारानी ने एक अत्यन्त सुन्दर गीत सुनाया। राजा अत्यन्त प्रसन्न हो गया तथा सब लोग मुग्ध होकर रह गये। तब रानी ने राजा से कह कर अपनी इच्छा के अनुसार दान कराया। सर रा० गो० भण्डारकर ने सिद्ध कर दिया है कि यह रानी महाराज सोम की धर्मपत्नी ही थी। * राज दरबार में रानी द्वारा गायन का यह अद्वितीय उल्लेख है। यह ताम्रपत्र शक संवत् १०६६ का है। इस घटना के थोड़े दिन बाद ही कलचुरि वंश की इस शाखा का अन्त हो गया।

इस प्रकार हमें विदित होता है कि कलचुरि वंश का बहुत विस्तार था। त्रिपुरी के कलचुरि नरेशों ने उत्तर में नैपाल तक

---

* Coll. Works of Sir R. G. B. Vol. III page 343.

बेलगाँव के कलचुरि ताम्र लेख का अवतरण:—

तस्य गीतकलाप्रौढ़ि चमत्कारहृतात्मनः। राज्ञः सावल देवीत्ति प्राणेभ्योपिप्रियाऽभवत्। गंगाप्रवाहवद्यस्याः शरीरामृत मुज्वलं। त्रिमार्ग्गशुद्धमाल्हादि सर्व्वपापक्षयावहम्। रूपे तिलोत्तमा सैव सैव गीते सरस्वती। सौभाग्ये पार्व्वतीसैव त्यागे कल्पलता स्वयम्। यत्पिता मैलुगिन्नाभ तत्समा मल्हणीत्यभूत। तयोर्गुणवतोः पुण्यैरीदृग्रत्नमजायत॥ यस्या; वाचलदेवीति रूप-सौभाग्ययोर्निधिः। भगिनी गीत नृत्यादिकला कौशलशालिनी।

अपनी राज्य सीमा बढ़ा दी थी और पश्चिम में कल्याण तक। पूर्व और दक्षिण में भी बहुत दूर तक हम भिन्न भिन्न अवसरों पर इनके राज्य का विस्तार पाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यह वंश अत्यन्त पराक्रमी पुरुषों का जन्म दाता रहा है। जहां हम इसके सीमा-प्रसार की ओर थोड़ा सा देख चुके हैं वहां इसके समय पर भी ध्यान देना अनुचित न होगा।

रत्नपुर और रायपुर की शाखाओं का अस्तित्व हम ई० सन् १७३२ और १७३५ तक पाते हैं। त्रिपुरी के वंश का राज्य काल ई० सन् ८७५ से १२०० के लग भग तक माना जाता है। इसी काल में कल्याण का वंश विलीन हो गया। इस प्रकार अन्त की तिथि तो कुछ ठीक ठीक मिलती है परन्तु कब यह वंश उदित हुआ इसमें बहुत मतभेद है। कलचुरि लोग कहां से आये यह भी अनिश्चित हैं। त्रिपुरी तथा अन्य स्थानों में जाने के पूर्व इनकी राजधानी माहिष्मती नगरी में थी। यहीं से इनका राज्य दक्षिण में फैला हुआ था। दक्षिण के अनेक राजाओं के साथ इनका सम्बन्ध होने का उल्लेख है।

चालुक्य राजा विनयादित्य का समय ई० सन् ६८० से ६९७ निश्चित है। इससे और हैहय राजाओं से मैत्री थी* इतना

* Coll. Works of Sir R. G. Bhandarker Vol. III The Early Chalukyas page 78

ही नहीं (७३३–७४७) विनयादित्य के नाती विक्रमादित्य द्वितीय को हैहयवंश की दो राजकुमारियां, लोकमहादेवी और त्रैलोक्यमहादेवी विवाही थीं। हैहयवंश कलचुरियों का ही दूसरा नाम है। महाराज कोकल्लदेव की पुत्री राष्ट्र-कूट नरेश अकालवर्ष को व्याही गई थी। इन उल्लखों से पता चलता है कि कोकल्लदेव के पूर्व कलचुरियों का वंश प्रख्यात और वलवान् था। इनका इतिहास इतना ही पुराना नहीं है। कलचुरियों ने जो संवत् चलाया था वह ई० सन् २४९ से आरम्भ होता है। इस अवसर पर कोई गौरवादायिनी घटना हुई होगी जिसका कि अव पता नहीं लगता। वहुत विचार के उपरान्त सर. रा. गो. भण्डारकर इस निकर्ष पर पहुँचे है कि "हैहय या कलचुरियों की जाति ई० सन् २४९ के लगभग शक्ति में आई और दक्षिण के कुछ हिस्से पर जिसमें कि पश्चिमी किनारे और लाट प्रान्त शामिल थे, अपना अधिकार जमाया। उपरान्त किसी दूसरी जाति ने इन्हें निकाल

यद्भ्राता भैरवो नाम यंत्रे गात्रे कृतश्रमः। विशेपात्रह्म वीणायां तालमान विचक्षणः। सा कदाचिदति प्रौढ़ गायन गायनी वांशिक वैणिकमार्दलिक पाणविकादि गांधर्व सम्प्रदायनिर्भरे महाऽस्थाने भरतादिकला कुशलेपु भावकरसिकरंजेपु।

दिया जिससे कि इन्हें चेदि देश में संकुचित होना पड़ा। इनकी राजधानी त्रिपुरी और त्रिकूट में बहुत समानता है।" रायबहादुर हीरालाल साहिब का भी कुछ ऐसा ही मत है।

यहाँ पर केवल प्रश्न यह उठता है कि जब चेदि (अथवा दाभाल) प्रान्त पर परिव्राजकों का आधिपत्य था तब कलचुरि कहाँ थे? चालुक्य राज विनयादित्य की मित्रता और उसके पौत्र विक्रमादित्य द्वितीय के विवाह हैहयों से तो हुए; किंतु ये हैहय थे कहाँ के? इन प्रश्नों का यही उत्तर हो सकता है कि जिस समय परिव्राजकों का राज्य दाभाल में था उस समय कलचुरि वंश पश्चिम में फैले होंगे और इनकी राजधानी माहिष्मती ही होगी। उपरान्त वे पूर्व को बढ़े हों और पूर्व चेदि (दाभाल) पर अपना आधिपत्य जमा लिया हो। इनकी मुख्यशाखा माहिष्मती में, और एक त्रिपुरी में आकर पूर्वीय प्रदेशों का प्रबंध करने के लिये बस गई हो पाश्चात्य प्रान्तों के साथ माहिष्मती और वहाँ की शाखा के नष्ट हो जाने से कलचुरियों के हाथ में केवल चेदि का छोटासा प्रान्त रह गया होगा। यह दशा कोकल्ल के समय तक रही होगी। कोकल्लदेव ने अपने पराक्रम से कलचुरियों का राज्य फिर से बढ़ाया और बड़े बड़े घरानों से विवाह संबंध स्थापित किये। इसलिये वह बहुत प्रख्यात और सम्माननीय हुआ। इसलिये त्रिपुरी के कलचुरि अपने लेखों में सहस्रार्जुन और (कार्तवीर्य) के उपरान्त बीच के और सब राजाओं को छोड़कर उन्हीं का नाम उल्लिखित करते हैं।

इस प्रकार हम कलचुरि वंश का अस्तित्व लगभग सन् २४९ से १७८५ तक भारत के निकट और दूर वर्ती भिन्न भिन्न स्थानों में देखते हैं। अब इसकी त्रिपुरीवर्त्तिनी शाखा और सम्राटों विचार करेंगे।

त्रिपुरी के कलचुरि

प्रोफेसरकील हार्न ने त्रिपुरी के महाराजाओं की नामावली में पन्द्रह नाम गिनाये हैं। इनमें सर्व प्रथम कोकल्लदेव (प्रथम) हैं। ये बड़े पराक्रमी महाराजा थे। बनारस के ताम्र-लेख में* उस समय के चार बड़े बड़े राजाओं को इनके द्वारा अभय दान देने का उल्लेख है। † ये राजा कन्नौज के भोजदेव, राष्ट्रकूट, कृष्णवल्लभ (या कृष्ण द्वतीय), हर्षदेव,

---

(विलहरी का शिलालेख)

कौम्भोद्भव्यांदिश्यसौ कृष्णराजः
कौवर्यांश्च श्रीनिधिर्कृष्णदेवः ॥

* Ep. India Vol. p 297–310

† भोजेवल्लभराजे श्रीहर्षे चित्रकूट भूपाले।
शङ्करगणे च राजनि यस्यासीभदः पाणिः ॥ (श्लो० ७)

चन्देल तथा कोकल्लदेव के ही पुत्र शंकरगण थे। * राष्ट्रकूट महाराज कृष्ण द्वितीय का नाम अकालवर्ष भी था। इन्हें महाराज कोकल्लदेव की पुत्री ब्याही थी। इससे जगतुङ्ग नाम का एक पुत्र हुआ। † बिलहरी के शिलालेख ‡ में भी कोकल्लदेव के द्वारा उत्तर में भोजदेव और दक्षिण में कृष्णराज के रूप में दो कीर्तिस्तंभ स्थापित किये जाने का उल्लेख है। राष्ट्रकूटों के शिलालेखों में भी कोकल्लदेव से संबंध होने का उल्लेख मिलता है। इन सब प्रमाणों पर विचार करने से विदित होता है कि महाराज कोकल्लदेव बड़े बलशाली तथा राजनीतिज्ञ थे। केवल अपने राज्य का प्रसार ही इनका एक मात्र ध्येय न होकर उसकी नींव दृढ़ करना भी इनका सिद्धान्त था। इसके लिये इन्होंने अपने आसपास के राजाओं से युद्ध करके उन्हें हराया अथवा उन्हें सहायता दे कर अभय किया। इतना ही नहीं उनसे आत्मीयता बढ़ाने के लिये वैवाहिक संबंध भी स्थापित किये। उन्होंने महाराज कृष्णराज राष्ट्रकूट (द्वितीय) को अपनी पुत्री दी और चन्देल वंश की कन्या

---

3 Ep. India Vol. II page 303

4 Collected works of Dr. Bhandarker Vol. III page 95
& Ep. India Vol. II page 304

5 Ep. India Vol. I page 251 ff

नद्दादेवी से स्वयं अपना विवाह किया। * सचमुच में शत्रुओं को हराकर अपना हितैषी बनाने की यह उत्तम रीति है। अकबर ने भी इसी नीति का पालन करके मुगल साम्राज्य की जड़ इतनी पक्की कर दी थी कि वह लगभग चार पीढ़ियों (१५० वर्ष) तक अचल रही। महाराज कोकल्लदेव की डाली हुई नीव लगभग ३०० वर्ष और १४ पीढ़ियों तक विचलित नहीं हुई। बनारस के ताम्रलेख में उन के व्यक्तित्व के विषय में भी कुछ विशेषता से बतलाया है :—"इस राजा में इतना बल है कि रिपुओं के मन भय के ताप से विदग्ध हुआ करते हैं। इनकी प्रभुता ऐसी है कि सज्जनों को सदा ही सुख होता है ये स्वयं अपना सुख प्रजा को कष्ट देकर नहीं साधते किंतु धर्म का ध्यान रखते हुए जो धन प्राप्त होता है वही अपने उपभोग में लाते हैं। धर्म और योग का इतना ध्यान रखते हैं कि उसके लिये प्रतिदिन सम्यक् शास्त्रों का मनन किया करते हैं।

---

* Ep. India Vol. II Verse 8 (Benares plate)

शाचीमिवेन्द्रः कमलामुपेन्द्रो नगेन्द्रकन्यामिव चंद्रमौलि

चंदेलवंश प्रभवा सुशीला नद्दाख्य देवींसतुपर्यनैपीत् ॥

इनका मन सर्वदा दान, यज्ञ तथा परोपकार में लगा रहता था। पितरों के ऋण की मुक्ति तथा वंश की पुष्टि के लिये दान देते और ज्ञानाभ्यास द्वारा ये मोक्ष की इच्छा रखते थे जो कि इन्हें प्राप्त हुआ।"* संयोग से इन्हें पत्नी भी सुशीला मिली थी। इनकी तुलना इंद्राणी कमला तथा पार्वती से की गई है। इस प्रकार एक योग्य राजा तथा सफल गृहस्थ दोनों के गुण इनमें थे।

महाराज कोकल्लदेव का समय प्रो० कीलहार्न ने ई० सन् ८६० और ९०० के बीच में निश्चित किया है। † रा० ब० हीरालाल ने ई० सन् ८७५ रखा है।

---

* तद्वंशप्रभवा नरेन्द्रपतयः ख्याताः क्षितौ हैहया
स्तेषामन्वयभूषणं रिपुमनोविन्यस्ततापानलः।
धर्मध्यानधनानुसंधितसुखः शश्वत्सतां सौख्यकृत्
प्रेयान्सर्वगुणाङ्कितप्रभुतया श्रीमानभूत्कोकलः॥
सम्यक् शास्त्रविचारणा प्रतिदिनं धर्माय योगाय च
इष्टापूर्त्तपरोपकारकृतये यस्यार्थसक्तामतिः।
आनृण्याधिगमाय दाननिरतिः सद्वंशपुष्टेस्तथा
ज्ञानाभ्यासवशान्मुमुक्षुपदवीमन्ते च यः प्राप्तवान्॥

(बनारस ताम्रलेख श्लो० ५-६)

† Ins in C. P. & Berar p. 205

मुग्धतुंग प्रसिद्धधवल

कोकल्लदेव के अठारह पुत्र थे। इनमें से प्रथम तो त्रिपुरी की गद्दी पर बैठा और बाकी भिन्न भिन्न मंडलों के शासक हो गये। इनमें से एक के वंशजों ने दक्षिण कोशल पर अपना आधिपत्य प्राप्त करके रत्नपुर की शाखा चलाई। * त्रिपुरी की गद्दी पाने वाले नट्टादेवी से उत्पन्न मुग्धतुङ्ग प्रसिद्ध धवल थे। बिलहरी के शिला लेख में वर्णित है कि मुग्धतुङ्ग प्रसिद्ध धवल ने पूर्वी समुद्र के किनारे के देश को जीत लिया था तथा कोशल के राजा से पाली छीन ली थी। † इसी शिला लेख से रा. ब. हीरालाल ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका में एक उद्धरण दिया है कि "जब वह दिग्विजय को निकला तो वह कौनसा देश है जो उसने न जीता हो। उसका चित्त मलय की ओर खिंचा क्योंकि समुद्र की तरंगें वहीं अपनी कला दिखलाती हैं; वहीं केरल की युवतियाँ क्रीड़ा करती हैं; वहीं भुजंग चन्दन के वृक्षों की सुगन्धि लूटते हैं।" ‡ अपने एक दूसरे लेख में हीरालाल सा० फिर बिलहरी के शिला लेख से उद्धृत करते हैं कि उसकी तलवार में इतना बल था कि उसने एक के बाद एक करके सब शत्रुओं के घरों को उलटा डाला। §

---

* Ratanpur stone Ins. Ep. Ind vol. I

† Exp. Ind. Vol. II, p. 301 and Ins. in C. P. & Berar p. 24

‡ ना. प्र. प. भा. ६ सं ४

§ तत्सूनुर्ख्यातकर्मा दिगिभकरनिभाजानुबाहुर्महात्मा।

सरसे प्रगट होता है कि जहाँ मुग्धतुंग प्रसिद्धधवल के पिता ने उत्तर तथा पश्चिम के प्रान्तों पर विजय पाई थी, पुत्र ने अपना झण्डा दक्षिण में फहराया। इस प्रकार दोनों ने मिलकर समस्त भारतवर्ष की दिग्विजय कर डाली।

बालहर्ष

बनारस ताम्र पत्र में मुग्धतुंग प्रसिद्धधवल के दो पुत्रों के नाम दिये गये हैं। पहिले बालहर्ष का नाम आया है जो कि पहिले राज सिंहासन पर आसीन हुआ। * तदुपरान्त उनके छोटे भाई युवराज देव के राजा होने का उल्लेख है। दूसरे शिलालेखों में बालहर्ष का नाम छोड़ दिया गया है। अतः प्रतीत होता है बालहर्ष का राज्य बहुत थोड़ा रहा है जिसके विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं पाया जाता।

केयूरवर्ष युवराजदेव

(ईस्वी सं० ९२५ से ९५०)

जैसा कि ऊपर कहा गया है बालहर्ष के उपरान्त उनके छोटे भाई युवराजदेव गद्दी पर बैठे। † इनका असली नाम

---

* भूमेर्भर्त्ताविभूव क्षतरिपुर्नृपतिर्बालिहर्षःसुजन्मा। श्लोक १२

† तस्यानुजः प्रथितबाहुबलो बभूव.......... पार्थोऽ परः कलियुगे युवराजदेवः श्लोक १५ (बनारस ताम्रलेख)
A. B. O. R. I.

सम्भवतः केयूरवर्ष था और युवराज देव केवल उपाधि मात्र थी। बिलहरी के शिलालेख में इनकी पत्नी नोहला इन्हें केयूरवर्ष तथा युवराजदेव दोनों नामों से संबोधित करती है। अतः ये केयूर-वर्ष अथवा युवराज देव प्रथम कहे जाते हैं।

बनारस के ताम्रलेख से यह भी प्रगट होता है कि वह धनुर्विद्या में अर्जुन के समान था। पृथ्वी के सभी मार्गों पर जाने वाली सेना के द्वारा उसने शत्रुओं को स्वर्ग में भेजा।* बिलहरी के शिलालेखों में लिखा है कि इन्होंने अनेक राजाओं को युद्ध में परास्त किया। किंतु इसके विरुद्ध चन्देल राज यशोवर्मन् का एक लेख लिखता है कि 'यशोवर्मन् ने चेदि के राजा को हराकर निर्लज्ज चेदियों से त्राहि त्राहि करा डाली।' † किंतु रा० ब० हीरालाल लिखते हैं कि यह केवल घरेलू झगड़ा था। इससे उसके वैभव में कुछ भी फर्क नहीं पड़ा। ‡ उनके इस झगड़े को घरेलू कहने का कारण है कि कलचुरियों और चन्देलों में विवाह संबंध होते थे। (कोकल्लदेव की पत्नी नट्टादेवी चंदेल वंश की हीथीं)। किंतु इतना

---

* कुर्वाणः समरेऽपि नाकपथगानागच्छतो विद्विषः।
विख्यातां भुविभूरिमार्गगमनामुच्चैर्दधद्वाहिनीम् ॥

† Ep Ind. Vol. I 132.

‡ ना. प्र. प. भाग ६ सं ४

सम्बन्ध दो राजघरानों को 'घरू' बनाने में कहां तक सफल हो सकता है यह विचारणीय है।

बिलहरी के शिला लेख में इनकी प्रशंसा में लिखा गया है कि उसने गौड़ देश की युवतियों की मनोकामना पूर्ण की; कर्णाटक की बालाओं के साथ क्रीड़ा की, लाटदेश की ललनाओं के ललाट अलंकृत किये, काश्मीर की कामनियों से क्रीड़ा की और कलिंग की स्त्रियों से मनोहर गीत सुने। कैलास से लेकर सेतुबंध तक और पश्चिम के समुद्र तक उसके शस्त्रों ने शत्रुओं के हृदय में पीड़ा उत्पन्न करदी।"

युवराजदेव शिव के उपासक तथा महान् दानी थे। मद्रास के प्रांत के मलकापुरम् नामक स्थान में एक शिलालेख मिला हैं उसमें लिखा है कि 'भागीरथी और नर्मदा के बीच डाहल मण्डल नामक एक देश है। वहां दुर्वासा मुनि के चलाए हुए शैव पंथ के महन्त रहते थे। उनमें से एक सद्भाव शंभु भी थे। डाहल के राजा युवराजदेव कलचुरि ने इन्हें तीन लाख गांवों का एक प्रदेश भिक्षा में दिया था। तब सद्भावशंभु ने गोलकी मठ की स्थापना की और भिक्षा में पाई हुई जायदाद उसके खर्च के लिए लगा दी।* इनकी पत्नी नोहलादेवी जो कि चालुक्य

---

* येन श्रीयुवराजकारितलसत्कैलासशृङ्गोपमं
प्रासादोत्तरतः सुमेरुशिखरस्पर्धी प्रसिद्धम्भुवि।

राजा अवन्ति वर्मन् की पुत्री थी, बड़ी दानशीला और धार्मिक थी। इनके द्वारा एक शिव मन्दिर के निर्माण तथा उसमें सात गाँव लगाने का उल्लेख है। दो गाँव इन्होंने उसी अवसर पर एक साधु को भी दिये थे।

युवराज देव का समय ई० सन् ९२५ से ९५० के बीच में निश्चित् किया जाता है।

इतना ही नहीं, युवराजदेव ने रीवां से ११ मील दूर गुर्गी नामक स्थान पर एक मठ बनवाकर मधुमती से प्रभाव

सद्मस्थापितमीश्वरस्य सकलत्रैलोक्य विस्मापकम्
यत्स्वर्गव्रजतस्तदीययशसः सोपानमार्गायते ॥
अस्ति विश्वम्भरासारः कमलाकुलमन्दिरम्।
भागीरथीनर्म्मदोर्मध्यं डहलमण्डलम् ॥
नीत्वा कालमनन्तमंतकजयी सद्भावशंभुगुरुः।
... ...
तस्मैनृस्पहचेतसे कलचुरिद्मापाल चूड़ामणिः
ग्रामाणां युवराजदेव नृपतिः भित्तां त्रिलक्षं ददौ ॥
कृत्वा सचैव मुनिरद्भुतशीलमूर्ति
श्रीगोलकीमठमुदारमुदात्तचित्तः।
अस्याकरस्य नृपदेशिकतात्मिकानां
वृत्तिंचकार सकलामयि तां त्रिलक्षम् ॥

शिव नामक शैव साधु को समर्पित किया था।* यह लेख गुरगी से २० मील दूर सोन नदी के तट पर चंद्रेही नामक गांव में पाया गया है। युवराजदेव के विषय में बनारस ताम्रपत्र में लिखा हैं कि वह परम शैव था और "शिव की आराधना के द्वारा वह साक्षात् परमेश्वर ही हो गया था।"†

लेख में यह भी लिखा है कि उसने कैलाश के समान एक बहुत ऊँचा महल और शिव मंदिर बनवाया था।

लक्ष्यणराज

(९५०-९७०)

युवराज देव (प्रथम) के पुत्र नोहला देवी से महाराज लक्ष्मणराज हुए। इन्होंने नोहला द्वारा स्थापित पवित्र मठों का आधिपत्य कुछ साधुओं को दे दिया। ये भी दिग्विजय को निकले और पश्चिम समुद्र के किनारे तक पहुंच गये। वहाँ पर इन्होंने भगवान् सोमनाथ के दर्शन किये और उनके चरणों में कालिय

---

* शिष्योबभूव भुवनत्रय कीर्त्तनीयः

श्रीमत्प्रभावशिवनाम मुनिर्मनीषी ॥

आनीययं सहजवासनया नयज्ञः श्रीमुग्धतुङ्गतनयो युवराजदेवः। सत्वोपकार भवदुत्तम कीर्तिहेतोरग्राहयन्मठमनन्त धनप्रतिष्ठम् ॥ (चंद्रेही का लेख) (श्लो० १६)

† यः साक्षात्परमेश्वरः समभवत्सम्यक् शिवाराधनात् ॥

की एक रत्न-जटित मूर्ति भेंट की। यह इन्होंने कोशल देश के राजा को हराकर उससे छीनी थी। इनके द्वारा बंगाल, पाण्ड्य, लाट और काश्मीर देश पराजित हुए।

रत्नपुर (छत्तीसगढ़) में कलचुरियों की एक शाखा चली। वह लक्ष्मण राज के ही एक पुत्र की सन्तान थी। इस राजकुमार को गण्डकी नदी के उत्तर का प्रान्त शासनार्थ दिया गया था। सम्भवतः लक्ष्मण राज का युद्ध राष्ट्रकूट कृष्णराज तृतीय से हुआ था। उसमें यह पराजित हुआ। कृष्ण राज को युवराजदेव प्रथम की पुत्री कण्डका देवी विवाही थी। तिसपर भी उसने कलचुरि नरेश से युद्ध किया और उसे हराया। लक्ष्मणराज की पुत्री चालुक्य तैलप की माता थी।

कारीतलाई के शिलालेख से पता चलता है कि लक्ष्मण राज की महारानी का नाम राहडा था। उन्होंने चक्रवर्दी नाम का गाँव कारीतलाई के मन्दिर को दान किया था। यह मन्दिर लक्ष्मण राज के मंत्री सोमेश्वर द्वारा निर्माण कराया गया था। सोमेश्वर के पिता भाकमिश्र महाराज युवराजदेव के प्रधान मंत्री थे। ये भरद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। कारीतलाई के शिलालेख में कुछ करों और लगानों का उल्लेख है जो उस समय की राज्य व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं।

बनारस का ताम्रलेख कहता है कि इन्होंने जनता की ऐसी अच्छी व्यवस्था की कि बहुत दिनों तक जनता ने सुख प्राप्त किया। ये बहुत बड़े नीतिज्ञ, दानी तथा सत्यवादी थे। इनमें दोष केवल इतना था कि दान देते समय पात्रापात्र का विचार नहीं करते थे।*

युवराजदेव द्वितीय

(सन् ९७५-१०००)

लक्ष्मण राज के दो पुत्र एक के बाद एक गद्दी पर बैठे। पहिले का नाम शंकरगण।! तथा दूसरे का नाम युवराजदेव (द्वितीय) था।? कर्णवेल के शिला लेख में लिखा है कि युवराजदेव ने चारों ओर के राजाओं को जीत कर उनका सब धन भगवान सोमेश्वर को अर्पण कर दिया। लक्ष्मण राज के विषय में भी यही बात (बिलहरी के शिला लेख में) कही गई है। सम्भवतः जो कार्य पिता ने किया वही पुत्र ने भी करना अवश्यक समझा हो। इसके समय में मालवा के राजा वाकपति मुंज ने त्रिपुरी पर चढ़ाई की और युवराजदेव को हरा दिया। इसने चोल, केरल तथा कर्नाटक के राजाओं को हराया तथा चालुक्य

---

* तस्मादभूल्लक्ष्मणराज देवः पुण्यैर्जनानां जनितव्यवस्थः अवाप्य यं धर्ममिव शितीशं चिराय लेभे जनता सुखानि (श्लो० १७)

राज तैलप द्वितीय को भी छः बार हराया। किंतु सातवीं बार स्वयं मुँहकी खाई।* वाक्पति मुंज कई दिनों तक त्रिपुरी में डेरा डाले पड़ा रहा और कलचुरियों के बड़े बड़े सेनापतिओं को मारडाला। युवराजदेव को उसके भानजे तैलप द्वितीय ने भी हराया। इस प्रकार युवराजदेव के समय में त्रिपुरी को बुरे दिन देखने पड़े।

इसके विपरीत जबलपुर के ताम्रलेख में युवराजदेव की बहुत प्रशंसा की है कि इसने मदान्ध राजाओं को परास्त कर त्रिपुरी को अमरावती के समान बना दिया। †

कोकल्ल देव (द्वितीय)

(सन् १००० से १०१५)

युवराजदेव (द्वितीय) के पुत्र कोकल्ल देव (द्वितीय) हुए। इनका उल्लेख बहुत से शिला-लेखों में है। बनारस के

---

* उदयपुर की प्रशस्ति

† तत्रान्वये नयवतां प्रवरो नरेंद्रः
पौरन्दरीमिवपुरीं त्रिपुरीं पुनानः।
आसीन्मदान्धनृपगंधगजाधिराज
निर्माथ केसरियुवा युवराजदेवः॥

ताम्रलेख में लिखा है कि इसने शत्रुओं को धनुष के समान नवा डाला, तूणीर के समान पीछे डाल लिया, दण्ड के समान हाथ में ले रखा और तलवार के समान नंगा कर दिया था।* जबलपुर के ताम्रलेख में लिखा है कि इसकी चतुरंगिणी सेना को केवल समुद्र की लहरें रोक सकती थीं।† भेड़ाघाट का लेख भी कहता कि इनकी कथा अत्यन्त अद्भुत होते हुए सत्य है। उदार रूप और नाम धारण करने वाले कोकल्लदेव त्रैलोक्य को सुख पहुंचाते हैं।‡

महाराज गाङ्गेयदेव

(सन् १०१५—१०४१)

कोकल्लदेव द्वितीय के पुत्र गांगेयदेव हुए। ये अत्यन्त प्रख्यात थे। इनका वर्णन अनेक कलचुरि शिला और ताम्रलेखों तथा दूसरे समीप और सीमावर्ती राजाओं के लेखों में मिलता

---

* नम्रं कार्मुकवत्कृतं नियमितं तूणीरवत्पृष्ठतः (श्लोक २४)

† कोकल्लमर्णव चतुष्टयवीचिसंघसंघट्टरुद्धचतुरङ्गचमू प्रचारम् (श्लोक ८)

‡ तस्यान्वये समभवत् प्रथितः पृथिव्यांनाथः कथाद्भुतमापि वृथानयस्य। कोकल्लदेव इति विभ्रदुदार रूपन्नाम त्रिलोक सुखसंजननैकधाम ॥

है। मुसलमान यात्री अलबरूनी ने भी अपनी पुस्तक में इसका लेख इन शब्दों में किया हैं।"........दहाल एक देश है जिसकी राजधानी तिओरी है और जिसका वर्तमान राजा गंगेय हैं।"* इस उल्लेख से मालूम होता है कि दाभाल प्रान्त और त्रिपुरी इसके समय में काफी प्रसिद्ध हो चुकी थी।

गांगेयदेव के सिक्के भी मिले है। कलचुरि नरेशों में यह गौरव केवल इन्हीं को प्राप्त हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं हैं कि दूसरे राजा अपने नाम के सिक्के नहीं चलाते थे। अगर ऐसा मानें तो इसका अर्थ यह होगा कि इनका पुत्र प्रसिद्ध महराजा कर्णदेव भी अपने नाम के सिक्के नहीं चला सका। असल बात यह है कि हमारे प्रान्त में पुरातत्व की खोज की ओर लोगों की इतनी उदासीनता है कि हजारों बातें अन्धकार में लुप्त हैं। अस्तु।

गांगेयदेव के सिक्के सोने के हैं। इनका वजन लगभग ६२ ग्रेन है। सीधी ओर चतुर्भुजीदेवी सामने मुख किये बैठी है और पीछे की ओर 'श्रीमद्गांगेयदेव' लिखा हुआ है। † यह

---

* अलबेरूनी का भारत भाग २ पृ० १२७
[श्री सन्तराम बी. ए. कृतअनुवाद]

† C. J. Brown: The Coins of India plate VI No. 9 तथा Ins. in C. P. & Berar by R. B. Hiralal page 230

देवीलक्ष्मी है। गुप्त वंश के सिक्कों की देवी के दो हाथ हैं और इनके चार। गांगेयदेव के विषय में स्मिथ साहिब लिखते हैं:—इनका समय सन् १०१५ से १०४० था। ये 'गण्डा' और उसके बाद के राजाओं के सम कालीन थे। ये योग्य और महत्वाकांक्षी राजा थे। उन्होंने उत्तरी भारत में अपना एक छत्र राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली। सन् १०१६ में इनका आधिपत्य दूरवर्ती तिरहुत में भी स्वीकृत कर लिया गया था। इनका गौरवान्वित ध्येय इनके पुत्र कर्णदेव ने भी अपना लक्ष्य बनाया। *

श्रीयुत हीरालाल जी लिखते हैं कि "कोकल्लदेव का लड़का गांगेय प्रभावशाली निकला। उसने केवल खोई हुई कीर्ति का उद्धार ही नहीं किया वरन् अपने वंश को गौरव के शिखर पर चढ़ा दिया। उसीने अपने राज्य को साम्राज्य बना दिया और विश्वविजयी की उपाधि प्राप्त की। उसने चढ़ाई करके प्रायः समस्त उत्तरीय भारत को अपने आधीन कर लिया। कीर अर्थात् कांगड़े के राजा को कैद कर लिया, उड़ीसा और बंगाल के राजाओं को पराजित किया। निजाम हैदराबाद के दक्षिणी कोने का देश जो कुन्तल कहलाता था जीत लिया था और पश्चात् वहाँ के राजा को बिलकुल निकाल देने के बदले

* V. A. Smith: Early History of India page 392

उसे उसका राज्य फेर दिया। उत्तर हिन्दुस्थान का बहुत सा भाग वश में कर लेने के कारण से वह प्रयाग में रहने लगा और वहीं पर अक्षयवट के निकट सन् १०४१ ई० में अपनी सौ रानियों के साथ मोक्ष पाया।" *

उपरोक्त लेखक अपने एक दूसरे (अंग्रेजी) लेख में लिखते हैं कि "कुन्तल जीतने की घटना का उल्लेख लेखों में इस प्रकार है:—मुकुटधारी मस्तकों की कलगी की मणि गांगेयदेव विक्रमादित्य की उपाधि से प्रख्यात हुए जिनके कि भय से कुन्तल का राजा अपना राज्य छिन जाने पर बाल बिखराये हुऐ भागना चाहा था किन्तु उसे फिर अपना राज्य मिल गया। † विक्रमादित्य की उपाधि ही गांगेयदेव की इस उच्च स्थिति का अनुमान कराती है जो उस समय के राजाओं के बीच में इन्हें प्राप्त थीं।" ‡ जबलपुर कोतवाली ताम्रलेख

---

* ना. प्र. प. भा. ६ सं ४

† सवीर सिंहासन मौलिरत्नं सविक्रमादित्यइति प्रसिद्धः।
यस्मादकस्मादपवर्गमिच्छन्न कुन्तलः कुण्वजितां बभार॥
Ep. In. Vol. II p. 3–4 जबलपुर यशःकर्णदेव का तामपत्र) खैरहा के ताम्रपत्र में भी यही श्लोक मिलता है।

‡ Kalchuries of Tripuri in Annuals of the Bhandarker Oriental Research Institute p. 291

के लेखक श्रीवत्सराज महाराज जयसिंह देव के दान पत्र में गांगेयदेव के विषय में इस प्रकार लिखते हैं :—

"उसका पुत्र गांगेयदेव था। वह वैरियों के मस्तक पर वज्र के समान और वीरों की लक्ष्मी का पति था। मरकत मणि के समान विस्तीर्ण उसका वक्ष था और सर्वदा हँसने वाले उसके नेत्र थे। उसके बाहु नगर के लंगर से भी लम्बे थे। उसने अपनी सौ स्त्रियों के साथ प्रयाग के वट वृक्ष के नीचे मुक्ति प्राप्त की।"*

शशिधर मौन ने अल्हण देवी द्वारा लिखवाये भेड़ाघाट के शिलालेख में गांगेयदेव का इस प्रकार वर्णन किया है:—

"गाङ्गेयदेव ने पृथ्वी के गर्वित राजाओं को हराकर अनन्त यश प्राप्त किया। उसने पृथ्वी को प्राणियों के हेतु कल्पवृक्ष और मेरु के समान बना डाला। उसने नीचे स्थित पृथ्वी को स्वर्ग से भी उच्च कर दिया। पुण्य से सींची तथा शुद्ध सब से

---

* मरकतमणिपट्टपौढ्वक्षा स्मिताक्षो नगरपरिघदैर्घ्य लंब-

यन्दोर्द्वयेन। शिरसिकुलिशपातो वैरिणां वीर लक्ष्मीपतिरभ वदपत्यं यस्य गांगेयदेव:॥ प्राप्ते प्रयाग वट मूलनिवेशबन्धौ सार्धं शतेन गृहिणीभिरमुत्रमुक्तिम्। श्लो० ६ तथा १५

बढ़ाई हुई उसकी कीर्तिलता ने सारे ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर दिया।"*

डा० ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है कि:—

"गन्डा की मृत्यु के उपरान्त चंदेलों और कलचुरियों में बहुधा मुठभेड़ होती थी। कारण यह था कि दोनों उत्तरी भारत में अपना आधिपत्य जमाना चाहते थे। इस प्रतियोगिता का आरम्भ करने वाला गांगेय देव कलचुरि (सन् १०१५-४०) था इसने अपनी जीत का डंका तिरहुत तक बजाया।" †

संभवतः स्मिथ सा० और ईश्वरी प्रसाद जी दोनों का आधार एक ही है और वह नैपाल का इतिहास है। ‡

डाक्टर कीलहार्न बनारस ताम्रपत्र की भूमिका में लिखते हैं कि यश-कर्ण देव के जबलपुर के ताम्रपत्र से पता चलता है कि

---

* निर्जित्योर्जितगर्वपूर्वत भृतः प्रत्यर्थिपृथ्वी भुजः प्राप्तानन्तयशा बभूव नृपतिर्गांङ्गेयदेवस्ततः। पृथ्वी येन विधाय मेरुमतुलं कल्पद्रुमेणार्थिनां स्वर्गादूर्ध्वमधः स्थिताऽपि विबुधाधारे समा पदिता॥ पुण्यामृतेन संसिक्ता शुद्ध सत्वप्रवर्धिता। यत्कीर्त्ति-व्रततिः सर्वेव्याप ब्रह्माण्डमण्डलम्॥

Ep. Ind. Vol. II. p. 11.

† History of Medaeval India pp 14

‡ Bendall's History of Nepal J. A. S. B. 1908 p. 18

गांगेयदेव को विक्रमादित्य की उपाधि भी थी। दूसरे चेदि शिलालेख भी उन्हें अत्यन्त धर्मात्मा बतलाते हैं। यहां तक कि चन्देलों के एक शिलालेख में इन्हें जगत्विजेता के नाम से सम्बोधित किया गया है। *

उपरोक्त विद्वानों के विवेचन तथा शिलालेखों से यह निर्विवाद प्रमाणित होता है कि गांगेयदेव अत्यन्त बलशाली राजा था। उसे उसके विपक्षी जगत्-विजेता कहकर पुकारते हैं जिस समय में भारत के सभी राज्यवंश क्षीण हो रहे थे, गांगेय देव ने अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न किया यह। उनकी राजनीत-ज्ञता का परिचय देता है। भारत के इतिहास में वह अत्यन्त विषम समय था। सन १००० से १०२६ के बीच में महमूद गजनवी ने सत्रह बार चढ़ाई की थी। कोई राजा अछूता नहीं बचा था। ऐसे ही समय पर गांगेयदेव ने उत्तर हिन्दुस्थान पर अपनी सत्ता जमाई।

आश्चर्य केवल यह है कि मुसलमानों से कोई मुठभेड़ नहीं हुई यद्यपि दोनों के कार्यक्षेत्र एक ही थे। यद्यपि शिलालेखों में दियाहुआ उनका चित्र अतिशयोक्ति पूर्ण है किन्तु जो कुछ भी इतिहास की दृष्टि से मान्य है उससे हमें पता लगता है कि गांगेयदेव बल, बुद्धि, विद्या और धर्म की दृष्टि से परिपूर्ण व्यक्ति थे। इनके शासन तथा अन्य कार्यों की ओर आगे ध्यान दिया जावेगा।

---

* Ep. Ind. vol. II p 302.

६

कलचुरि सम्राट्

कर्णदेव

(१०४१-७३)

गांगेयदेव के पुत्र कर्णदेव हुए। कलचुरी वंश में इन से अधिक प्रतापशाली दूसरा कोई नहीं हुआ। बनारस के शिलालेख में लिखा है कि "गांगेयदेव का पुत्र कर्ण हुआ। पृथ्वी में कर्णदेव (महाभारत के) कर्ण के समान अतुल प्रभाव वाला था। इसके अभिषेक का समाचार सुनकर शत्रुओं का हर्ष नष्ट होगया। उसकी कीर्तिलता दिन पर दिन इतनी बढ़ती जाती थी कि ब्रह्माण्ड का अवकाश भी उसे धारण करने के लिये छोटा पड़ गया!.........तीनों शक्तियों का वह एक ही पात्र था। उस गुणाकर धर्मात्मा राजा की स्तुति

किस प्रकार की जावे। उसकी परमकृतियों से यह पृथ्वी सच-मुच में राजन्वती कहलाती है।" * यह ताम्रलेख स्वयं महाराज कर्णदेव ने प्रकाशित करवाया था। इसमें उन्होंने अपने विशेष कार्यों तथा विजयों का उल्लेख नहीं किया। किन्तु उनके पुत्र यशःकर्णदेव के दो शिलालेख क्रमशः जबलपुर और भेड़ाघाट में मिले हैं। उनमें उनके कुछ कार्य गिनाये गये हैं। यथा:—

"इनके पुत्र कर्णदेव ने अपने शत्रुओं के हाथियों के मस्तकों से गजमुक्ता निकालकर दिशाओं की अर्चना की उनकी ख्याति क्षीर समुद्र की लहरों के समान फैली है। काशी में उन्होंने कर्णमेरु नामक इतना ऊंचा मन्दिर बनवाया

---

* तस्यात्मजः कर्णइवावतीर्णः कर्णः पृथिव्यां प्रथितप्रभावः
यस्याभिषेकश्रवणा द्विपद्भिर्नष्टं प्रहृष्टं द्विजमित्रवर्गैः॥
यत्कीर्तिलतया दूरं प्रसरंत्या दिने दिने।
ब्रह्माण्डमण्डलाभोगः स्वल्पतामुपनीयते॥
शक्तित्रियैक निलयस्य गुणाकरस्य
धर्मात्मनः स्तुतिपदं किमिहास्ति किञ्चित्।
आशास्यते परमिदंकृतिभिः सदैव
राजन्वती वसुमती भवतैव भूयात्॥
(Ep. Ind. Vol. II p. 309 श्लो० २८-२१)

कि इसके स्वर्णमय शिखर पर स्थित पताकाओं की वायु से आकाश में क्रीड़ा करने वाली अप्सराओं की थकावट दूर हो जाती है। उन्होंने धर्म स्तंभ के रूप में कर्णावती नाम की नगरी बसाई।" *

इस लेख में जिस कर्णावती नामक नगरी का उल्लेख करता है वह त्रिपुरी के समीप थी। कर्णदेव के समय में यह अत्यन्त वैभव शालिनी और विद्वानों से भरी हुई बस्ती थी। अल्हणदेवी के लेख में कर्णदेव के जीते हुये देशों के नाम मिलते हैं:—"इस अपूर्व प्रभावान राजा ने इस प्रकार अपने शौर्य का दिग्दर्शन किया कि पाण्ड्य लोगों ने अपनी प्रचण्डता, मुरलों ने अपना गर्व और अहंकार-छोड़ दिया, कुंग लोग उचित मार्ग पर आ गये और बंग तथा कलिंग के लोग काँप गये। कीर लोग पिंजड़े रूपी

---

* कनक शिखर वेल्लत्वैजयंती समीर
गलितगगनखेलत्खेचरीचक्रखेदः ॥
किमपरमिह काश्यां यस्य दुग्धाब्धिवीची,
वलयवहलकीर्तेःकीर्तनं कर्णमेरुः ॥
अग्र्यं धाम श्रेयशो वेदविद्या वल्लीकन्दः स्वत्रयन्त्याः किरीटम् ।
ब्रम्हस्तम्भो येन कर्णावतीति प्रत्यष्ठापि क्ष्मातल ब्रह्म लोकः ॥

(Ex. Ind. Vol II p. 4 श्लो० १३-१४)

घरों में तोतों (कीर) के समान दबककर रह गये। हूणों ने हर्षित होना त्याग दिया।" *

इतना ही नहीं कर्ण द्वारा और भी देश जीते गये थे। कर्णदेव के शिला लेख में लिखा है कि गांगेयदेव का पुत्र कर्ण था जिसकी सेवा में चोल, कुंग, हूण, गौड़, गुर्जर तथा कीर देश के नरेश प्रस्तुत रहते थे। †

ये शिला लेख तो कलचुरियों के हुये। कर्ण के शत्रुओं ने भी इसकी प्रशंसा की है। नागपुर प्रशस्ति में मालवा के प्रमारों ने कर्णदेव के विषय में ये शब्द लिखे हैं:—विशाल समुद्र के समान कर्ण के साथ कर्नाटों ने मिलकर बड़ा उपद्रव मचाया और पृथ्वी पर अपना अधिकार जमा लिया। तब वाराह अवतार के समान इस राजा ने उसकी रक्षा की।" ‡ ये तो सब

---

* पाण्ड्यः चण्डिमतांमुमोच मुरलस्तत्याज गर्वग्रहम्
कुंङ्गःसद्गतिमाजगाम चकपे वङ्गः कलिङ्गैः सह
कीरः कीरवदास पञ्जरगृहे हूणः प्रहर्षं जहौ
यस्मिन्राजनि शौर्यविभ्रमभरंविभ्रत्यपूर्वप्रभे ॥

(Ex. Ind. Vol II p. 11 श्लो १२)

† जयसिंह का कर्णवेलका शिलालेख

‡ येनोधृत्य महार्णवोपसमिलनकर्णाटाकर्णप्रभु
मुर्वी पालकदर्थितां भुवनिमां श्रीमद्वराहायितम् ॥

(Ep. Ind Vol II p. 1185 श्लो० ३२)

Ins. C. P. & Berar page 26-27

हुए कर्ण की विजय के गान। किन्तु कहीं कहीं इनकी पराजय का वर्णन भी मिलता है।

प्रबोध चन्द्रोदय नाटक में लिखा है कि कर्णदेव ने चन्देल राजा का राज्य छीन लिया किन्तु अन्त में उसने अपने ब्राह्मण सेनापति गोपाल की सहायता से गये हुए राज्य को वापिस छीन लिया। * डाक्टर ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं कि गांगेयदेव के उपरान्त उनके पुत्र कर्ण देव ने मालवा और मगध के राजाओं को पराजित करने की नीति स्थिर रखी और उनसे युद्ध किया। चन्देल राजा कीर्तिवर्मन् को कर्णदेव ने बुरी मात दी किन्तु अन्त में अपने ब्राह्मण सेना पति गोपाल की सहायता से उसने अपनी हानि का बदला लिया। गोपाल ने कलचुरी राजा पर चढ़ाई की और अपने स्वामी पर किये गये हुए अत्याचारों का बदला लिया। †

कर्ण देव के विषय में विन्सेण्ट स्मिथ लिखते हैं कि ई० सन् १०६० के समीप कर्णदेव ने गुजरात के राजा भीम

---

* प्र. चं. ना. प्रथमांक श्लो० ६
विवेकेनेव निर्जित्य कर्णं मोहमिवोर्जितम्
श्रीकीर्तिवर्मनृपतेर्बोधस्येवोदयः कृतः ॥९॥
प्र. चं. प्रथमांक श्लो० ६

† History of Medevial India p. I4

देव के साथ मिल कर मालवा के राजा भोज को कुचल डाला। मगध के पाल राजा पर भी सन् १०३५ के आसपास आक्रमण किया था किन्तु कुछ साल बाद कर्णदेव को विजय लक्ष्मी की अस्थिरता का पाठ मिल गया। उसे बहुत से विपक्षी राजाओं ने मिलकर हराया। इन सब में कीर्तिवर्मन् चन्देल का नाम उल्लेखनीय है। इसने गांगेयदेव के सिक्कों की देखा देखी अपने सिक्के भी ढलवाये थे। *

कर्णदेव के विषय में कलचुरी वंश के सब से बड़े इतिहास अन्वेषक रा० ब० हीरालाल साहब का मत इस प्रकार है:— गांगेयदेव का लड़का कर्णदेव अत्यंत प्रतापी निकला। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता काशीप्रसाद जायसवाल उसे भारतीय नेपोलियन कहते हैं। उसने सभी राजाओं पर जो उसके अधीन नहीं थे धावा कर डाला और उन्हें अपने वंश में कर लिया। पाण्ड्य, चोल, मुरल, कुंग, वंग, कलिंग, गुर्जर, हूण सभी अपनी हेकड़ी भूल गये और उन्हों ने कर्ण के चरणों पर माथा नवाया। रासमाला में लिखा है कि १३६ राजा उसके चरण कमलों की सेवा करते थे। इतना होने पर भी अपने पड़ोसी जुझौती के राजा से हार गया।

---

* V. A. Smith Early History of India p 392

कर्णदेव का राज्याभिषेक दो वार हुआ। पहिला १०४१ में जब उसके पिता का देहान्त हुआ और दूसरा सन् १०५१ ई० में जब कि वह समस्त भारत को सर करके साम्राट् वन गया। उस समय से उसका अलग सम्वत्, वंश परम्परा के संवत् के साथ, लिखा जाने लगा। इससे यह जान पड़ता है कि कर्णदेव ने राज्य पाते ही १०-११ वर्ष के अन्दर ही भारत वर्ष भर का साम्राज्य प्राप्त कर लिया। त्रिपुरी भारत वर्ष के विल कुल मध्य में पड़ती हैं। नैपाल से वह उतनी ही दूर है जितनी की कन्या कुमारी से। इसी प्रकार उसकी दूरी वंगाल की खाड़ी से उतनी ही है जितनी कि अरव समुद्र से। इस केन्द्र पर कर्ण ने वैठ कर समस्त भारत के राजाओं को नाच नचाया और त्रिपुरी को भारतीय बल का यथार्थ केन्द्र बना कर दिखा दिया। जान पड़ता है कि उस जमाने में त्रिकलिंग देश का कुछ विशेष महत्व था। उस देश को कर्णदेव ने किसी विशेष कारण से अपने बिल कुल अधीन कर लिया था और अपने नाम के साथ त्रिकलिंगाधिपति की उपाधि जोड़ ली थी।

"गांगेयदेव बहुधा प्रयाग में रहा करते थे। कर्णदेव की रुचि काशी की ओर झुकी और उसकी इच्छा हुई कि परम पावनी शिवपुरी को अपनी राजधानी वनाऊँ। इस हेतु उसने वहाँ एक विशाल मन्दिर वनवाया जो कर्ण मेरु के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कर्ण देव ने कर्ण मेरु वारह मंजिला वनवाया। यह आकार

में षट्कोण था। उसमें चार दरवाजे और नाना प्रकार से सुसज्जित अनेक खिड़कियाँ थीं। उसकी समानता का शिवालय नहीं था। वह वरुणा और गंगा के संगम के निकट बनाया गया था। * उसने यह सब किया किंतु त्रिपुरी से राजधानी हटाने का साहस न कर सका। इसलिये काशी भारत के साम्राज्य की राजधानी होते होते रह गयी। †

उपरोक्त अवतरणों में कुछ प्राचीन प्रदेशों के नाम आये हैं जिन्हें कर्ण देव ने जीता था। पाण्ड्य देश, द्रविड़ देश की अन्तिम दक्षिणी नोंक (मदुरा व तिरुनवल्ली जिले) का प्रान्त था। पश्चिमी किनारे का उत्तरी भाग कोंकण, बीच का कर्नाटक और दक्षिणी हिस्सा केरल कहलाता था। पूर्वी किनारे का उत्तरी हिस्सा कलिंग, बीच का आंध्र-तट और बड़ नदी के दक्षिण चोल मण्डल था। ‡

केरलही को शायद भेड़ा घाट के शिला लेख में मुरल कहा

---

* राखालदास बंद्योपाध्याय लिखते हैं:—आज तक आदि केशवजी के वर्तमान मन्दिर के पीछे किला राज घाट के टीले के ऊपर इस मन्दिर के अनेक पत्थर मिलते हैं जिन पर नक्काशी का काम किया हुआ है।

(विशाल भारत वर्ष-२, खण्ड १, संख्या १)

† ना. प्र. प. भा. ६ सं ४

‡ जयचन्द्र विद्या लंकारः—"भारत भूमि और उसके निवासी।" १=८

गया है। नीलगिरि के उत्तर का भाग जिसे आजकल सालेम या कोयंबट्टूर जिला कहते हैं कुंग कहलाता था। इसीसे लगा हुआ त्रिकलिंग या तैलंगाना था जो कि स्थायी रूप से कलचुरि राज्य में जुड़ गया था। कलिंग में उड़ीसा और तैलंगाने का कुछ भाग आता है। कलिंग से वंग (अर्थात् वर्तमान बंगाल) लग जाता है। बंगाल का पूर्वी भाग गौड़ कहलाता था। मगध प्रसिद्ध बिहार प्रान्त है। वर्त्तमान कांगड़ा के आसपास का प्रदेश कीर कहलाता था। हूणों का राज्य पंजाब में फैला था। गुर्जर प्रान्त वर्तमान गुजरात का प्राचीन नाम है। चन्देल बुंदेल खंड में बसे थे और राजा भोज का राज्य मालवा में था। इतने प्रान्तों और जातियों पर कर्ण ने आक्रमण किया और उन्हें हराया। शेष प्रान्त जिनका नाम नहीं दिया गया है पहले से ही कर्णदेव के राज्य में थे। विदित होता है कि कर्णदेव का राज्य राजपूताने और सिंध छोड़कर समस्त भारत वर्ष में फैला हुआ था।

त्रिपुरी के लिये बड़े भारी गौरव की बात यह है कि वह भारत के सबसे बड़े साम्राज्य की राजधानी थी। भारत के इतिहास में किसी भी साम्राट का इन सब प्रान्तों पर आधिपत्य नहीं रहा। ऐतिहासिक काल में अशोक सबसे बड़े साम्राट् थे, किन्तु चोल, पाण्ड्य, तथा मलाबार प्रान्त उनके राज्य के बाहर थे। महाराज समुद्र गुप्त का राज्य नर्मदा के दक्षिण तथा नैपाल

तक पहुंचा ही नहीं। किंतु यहाँ कर्णदेव के पिता गांगेयदेव तिरहुत तक को जीत गये थे। हर्ष का राज्य-विस्तार समुद्रगुप्त से बहुत अधिक नहीं था। मुगल सम्राटों में औरंगजेब का राज्य सबसे विस्तीर्ण रहा है। किन्तु उसमें भी महाराष्ट्र और दक्षिण के प्रान्त शामिल नहीं थे। केवल एक अंग्रेजी साम्राज्य ही एक अपवाद है। शिलालेखों में कपोल-कल्पित विजय का वर्णन नहीं है। किंतु जिन जिन प्रान्तों के जीते जाने का उल्लेख हैं वे सच-मुच जीते गये थे। अनेक प्रान्तों में ऐसे लेख तथा प्रमाण मिलते है जिनसे कर्णदेव के विषय में दिये गये उपरोक्त अवतरणों का समर्थन होता है। स्वर्गीय राखालदास बंद्योपाध्याय ने अपनी खोज द्वारा यह सिद्ध कर दिया है। इन सब बातों से प्रतीत होता हैं कि कर्णदेव भारत के ही नहीं किन्तु संसार के सबसे बड़े सेना नायकों में से एक थे। स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल उन्हें भारतीय नेपोलियन कहते है। किन्तु सचमुच में कर्णदेव नेपोलियन से कहीं बड़े थे। नेपोलियन जिस साम्य, स्वातंत्र्य और भ्रातृत्व की भावना की आड़ से युद्ध करता था उससे उसे अत्यन्त लाभ होता था। विपक्षी देशों के लोग उससे सहानुभूति करने लगते थे जिससे उसे विजय में सरलता होती थी। किंतु कर्णदेव को विजय में ऐसा कोई सुभीता नहीं था। नेपोलियन आसपास तथा समीप वर्त्ती देशों पर ही कब्जा जमा सका था। रूस और मिसर में से मुंह की खानी पड़ी थी। किन्तु कर्णदेव

पाण्ड्य, चोल, मलाबार, कलिंग, वंग, पंजाब और गुजरात तक गये और जीतकर लौटे। वाटरलू में नैपोलियन जो हारा तो सदा के लिये समाप्त हो गया। किन्तु कीर्तवर्मन् से हारने पर भी कर्ण का कुछ नहीं बिगड़ा। अतः कर्णदेव संसार के बड़े बिजेताओं में से हैं। इन्हें अलक्षेन्द्र (Alexander) आदि की श्रेणी में रखना चाहिए।

इतना सब होते हुये भी कर्णदेव को अनेक धार्मिक और सामाजिक कार्य करने का अवसर मिल गया। उन्होंने बनारस में अपने पिता का यथोचित श्राध्य किया और वहीं पर एक नई राजधानी सजाना शुरू किया। वहां कर्ण मेरु नामक अप्रतिम मन्दिर बनवाया। इसके सिवा अमरकण्टक में भी इनके मन्दिर मिलते है। इनकी पैत्रिक राजधानी त्रिपुरी ने भी कर्णदेव के समय में उत्तम विभूति पाई। कर्णदेव दानी भी इतने थे कि काशी में आज तक उनकी प्रशंसा की जाती है। अभी तक कलचुरि राजाओं के विवाह संबंध केवल भारतीयों से होते थे। किन्तु कर्णदेव ने इस रूढ़ि के विरुद्ध विदेशी हूण वंश से अपना संबंध स्थापित किया। इनकी धर्म पत्नी आवल्लादेवी हूण कन्या थीं। यह उनकी सामाजिक उदारता पर प्रकाश डालता है। हमें उनकी शासन प्रणाली तथा अन्य बातों के उदाहरण अलग से नहीं मिलते हैं। तो भी उनके जीवन भर उनका साम्राज्य

अक्षत रहा, यही बात उनकी महानता और संगठन शक्ति की द्योतक है। अतः हम यह कह सकते हैं कि कर्णदेव न केवल कलचुरि वंश किन्तु भारत की श्रेष्ठ विभूतियों में से एक थे जिन्हें संसार ने भुला दिया है।

यशःकर्णदेव

(सन् १०७३—११५१)

आवल्ला देवी से कर्णदेव के पुत्र यशकर्ण हुए। जबलपूर के ताम्रपत्र में लिखा है कि "कलचुरियों के स्वामी के हूण रूपी जल निधि की लक्ष्मी आवल्ला देवी के गर्भ से यशकर्ण हुए।* इस धर्मात्मा पुत्र का राज्याभिषेक स्वयं पिता ने ही कर दिया था। यही लेख अनेक प्रकार से यशकर्ण देव के दान और यश का वर्णन करता है। कहते हैं कि इन्होंने इतने ऊँचे ऊँचे जयस्तम्भ निर्मित करवाये कि वे दिगन्तों के बांधने के खम्भों की बराबरी करते थे।† आगे चलकर फिर

---

* अजनि कलचुरीणां स्वामिना तेन हूणान्वयजलनिधि लक्ष्म्यां श्रीमदावल्लदेव्याम्॥ शशभृद यशाङ्कानुब्धदुग्धाब्धि वीच सहचरितयशः श्रीयशःकर्णदेवः॥ १५

† चन्द्रार्कशीपवति पर्वतराजपूर्ण कुम्भावभासिनि महार्घ चतुष्कमध्ये। चक्रे पुरोहित पुरस्कृतिपूत कर्मा धर्मात्मनोऽस्य हिपितेव महाभिषेकम्॥ १६

लिखा कि "आन्ध्र राजा को विना किसी प्रयास उच्छेद करके भगवान भीमेश्वर का अनेक आभूषण आदि दान करके पूजन किया। गोदावरी अपनी लहरों तथा वृक्षावलि से अपने स्वर द्वारा मधुर हंसों के समान उसकी वीरता के गान गारही है। राजाओं को नष्ट कर उसने पृथ्वी ब्राह्मणों को देकर परशुराम की बराबरी का दावा किया।" *

अल्हण देवी वाले भेड़ाघाट के शिला लेख में यशःकर्ण द्वारा विजित चम्पारण्य का इस प्रकार उल्लेख है। "उससे (कर्ण से) नरेश चूड़ामणि विशद हृदय वाले यशकर्णदेव का निष्कलंक जन्म हुआ। इनके चम्पारण्य-विदारण रूपी यश चन्द्र से समस्त दिशाएं अलोकित होगई। ये इतने उदार हृदय थे कि विद्वानों को बिना किसी अपवाद के दृष्टि पड़ते ही धनवान्

---

* अन्ध्राधीशमरन्ध्रदोर्विलसितं स्वच्छन्दमुच्छिन्दता येनाभ्यर्च

तभूरिभिः सभगवान्भीमेश्वरो भूषणैः ॥

यस्यावर्णयदात्त नृत्यलहरीद्रुवल्लिगोदावरी

वीर्याण्युन्मदहंसनादमधुरैःस्रोतस्वरैसप्तभिः २३

Ep. Ind. Vol. II p. 15

बना दिया करते थे।" * कलचुरियों के और भी बहुत से लेखों में इनका नाम या तो प्रशंसा में या साधारणतया दिया गया है। किन्तु ऐतिहासिक महत्व की ये ही दो बातें मिलती हैं कि इन्हों ने चम्पारन पर चढ़ाई करके उसे नष्ट कर डाला और दक्षिण में गोदावरी के किनारे आन्ध्रों को पराजित किया। किन्तु यह बात निश्चित है कि मालवा के प्रमारों से इन्हें हार खानी पड़ी।

मालवा के राजाओं की नागपुर की प्रशस्ति में प्रमार राजा लक्ष्मण देव द्वारा त्रिपुरी की चढ़ाई का वर्णन है जिसमें कि उसने त्रिपुरी पर आक्रमण कर के वहां के राजा को हरा दिया था। †

इसकी प्रशस्ति में लक्ष्मणदेव प्रमार के पिता उदयादित्य द्वारा कर्णदेव कलचुरि से पृथ्वी के उद्धार की बात लिखी

---

* चम्पारण्य विदारणोद्गत यशः शुभ्रांशुना भासयन्
नाशाचक्रमवक्रभाव हृदयः क्ष्मापालचूड़ामणिः।
तस्माज्जन्म समाससाद विशदं श्रीमान्यशः कर्णइ-
त्यौदार्यद्धि निकी चकार विबुधान्यः प्रेक्ष्य सर्वानपि ॥
Ep. Ind. Vol. II p. 11 श्लो० १४

† उत्साहोन्नति सन्निमित्तजनिताजस्रप्रयाणक्रमे
णाक्रम्यत्रिपुरींरणेंकरसिकान्विध्वंस्य विद्वेषिणः।
येनावासत विन्ध्य निर्झरमरु त्संचारचाल्लस
ल्लोलोद्यानलतावितानवसतौ रेवातटस्थध्वजे ॥ इत्यादि
Ep. Ind. Vol. II p. 186 श्लो० ३६ से ४२

है अतः लक्ष्मणदेव द्वारा पराजित राजा यशः कर्ण देव ही हो सकता है। दूसरे स्वतंत्र प्रमाणों से भी यही पता लगता है। त्रिपुरी की चढ़ाई का वर्णन इस प्रकार है :—

"उत्साह में आकार जब वह रण विजय को निकला तब उसने त्रिपुरी पर भी आक्रमण किया और वहां के रण रसिक शत्रुओं को पराजित करके विंध्य निर्झर की वायु से विकंपित रेवातट के उद्यानों में डेरा डाल दिया। ऊँची कगारों से टकराती हुई रेवा प्रवाह की लहरों में मज्जन करके उनके हाथियों ने अपने युद्धोत्पन्न श्रम को दूर किया।

उसके रण कुञ्जरों ने, जिनके गण्ड स्थलों से मद प्रवाहित हो रहा था. विन्ध्याचल के तलस्थित पहाड़ों को शत्रुओं के हाथी समझकर तोड़ फोड़ डाला। पर्वतों के चौड़े चौड़े झरने उनकी सूड़ों के समान, पर्वत चोटियां गण्ड-स्थलों के समान और उनके ऊपर से बहने वाला जल मद के समान प्रतीत होता था।

विन्ध्याचल की उपत्यिका में स्थित पहाड़ियों को घोड़ों की पैनी टापों से छिन्न भिन्न कर डाला। यह उपत्यिका वंश वृक्षों से परिपूर्ण थी, जिनमें अगणित हाथी घूम रहे थे। उन हाथियों के विशाल गण्डस्थलों से जो मद वह रहा था उसकी गंध से उसके घोड़े उत्तेजित हो उठे थे।"

इन लेखों से विदित होता है कि विद्रोह की अग्नि जो कि आन्ध्रों ने सुलगाई थी बार २ प्रज्वलित हो रही थी—कभी दक्षिण में कभी उत्तर में, तो और कभी मध्य में। आधीनस्थ राजा बागी हो उठते थे जिनको दबाना यशकर्ण के लिये कठिन हो गया था। रा. ब. हीरालाल सा० कहते हैं विद्रोह दक्षिण के आन्ध्र देश से आरम्भ हुआ और यशकर्णदेव ने वहाँ के राजाओं कोबुरी तरह पछाड़ा तथापि उत्तर के विद्रोहियों से पार न पासका। कन्नौज के गहवारों ने कलचुरियों को काशी व मगध से निकाल बाहर किया। यशकर्ण हिम्मत नहीं हारा। उसने पुनः चढ़ाई करके काशी जीत ली और चम्पारन को लूट मार कर मटिया मेट कर डाला परन्तु उसके बुढ़ापे के समय बनारस भी उसके हाथ से निकल गया और उसकी मृत्यु होते ही मिथिला से संबंध सदैव के लिये टूट गया।

यशकर्ण के उपरान्त उनके पुत्र गयाकर्ण सिंहासनारूढ़ हुए। इनके राज्यकाल में कलचुरि वंश का ह्रास ही हुआ है। ये विशेष पराक्रमी नहीं थे। अतः गिरती हुई अवस्था को सम्हाल नहीं सके। इनके समय के अनेक शिलालेख तथा ताम्रलेख मिलते हैं किन्तु उनमें कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है। गयाकर्णदेव के उपरान्त उनके दो पुत्र नरसिंहदेव और जयसिंहदेव गद्दी पर बैठे। जयसिंहदेव का कलचुरि संवत ६१८ (सन् ११६६) का एक ताम्रलेख मिला है। उसमें उल्लेख

है कि जयसिंहदेव के राज्याभिषेक का समाचार सुनकर तुरुष्क (मुसलमान) गुर्जर और कुंतल लोग घबड़ा गये। इससे पता लगता है कि ये स्वतंत्र जातियाँ थी और कलचुरियों से अच्छा संबंध नहीं था। * नरसिंहदेव तथा जयसिंहदेव में रामलक्ष्मण के समान प्रेमभाव था। †

नरसिंहदेव तथा उनकी माता अल्हणदेवी ने भेड़ाघाट में वैद्यनाथ (गौरीशंकर) का प्रसिद्ध मंदिर बनवाया ‡ तथा उसके

---

* नष्टं गुर्जर भूभुजा भुजबलं मुक्तं तुरुष्केणच

त्यक्तः कुंतलशासकेन सहसा कंदर्पकेलिक्रमः।

Jubbulpore Copper plate of Jaisinghdeo by R. B. Heralal (श्लो० १७)

† तस्यानुजो विजयतां जयसिंहदेवः

सौमित्रिवत्प्रथमजेऽद्भुतरूप सेवः॥

(भेड़ाघाट प्रशस्ति श्लो० २६)

‡ देवायास्मै वैद्यनाथाभिधाय (श्लोक २६।

अकार यन्मंदिरमिन्दुमौलेरिदम्मठेनाद् भुतभूमिकेन"

(भेड़ाघाट प्रशस्ति श्लो० २७)

साथ ही व्याख्यान शाला और उद्यान बनवाये। * अह्लणदेवी बहुत उदार थीं। भेड़ाघाट के लेख में उनके द्वारा जावालिपत्तन (जबलपुर) में नर्मदा के दक्षिण तीर पर उण्डी और मकर-पाटक गांवों का दान पाशुपत मत के श्रीरुद्रशिव नामक तपस्वी को देने का उल्लेख है। †

भेड़ाघाट की प्रशस्ति में अल्हणदेवी का वंश इस प्रकार वर्णित है:—संसार में गोभिल कुल प्रख्यात है। उस वंश में हंस-पाल, उनके पुत्र वैरिसिंह तथा उनके पुत्र विजयसिंह हुए। उनकी पत्नी श्यामलादेवी मालवराज उदयादित्य की पुत्री थी। उनसे अल्हणदेवी नामक पुत्री उत्पन्न हुई जिसका विवाह त्रिपुरी के राजा गया कर्ण से हुआ। उनसे नरसिंहदेव और जयसिंहदेव की उत्पत्ति हुई।

त्रिपुरी के कलचुरि वंश का अन्तिम राजा विजयसिंह हुआ है इसके समय के भी शिलालेख मिलते हैं। विजयसिंहदेव

---

* व्याख्यानशालामुद्यानमालामविकलाममून्। (श्लो० २८

† नर्मदादक्षिणेकूले पर्वतोपत्यकाश्रये।
तथा परमदाद्गुमन्नाम्ना मकरपाटकम्॥ (२९)

प्रादाद्देवी जाउलीपत्तनायाम्
ग्राममन्नाम्नानाम उण्डीति। (श्लो. २९-३०)

के उपरान्त हमें कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे त्रिपुरी के कलचुरि वंश के समय में कुछ कहा जा सके।

त्रिपुरी के कलचुरि वंश की कहानी पूरी करने के पूर्व एक दो बातों का उल्लेख विद्वानों के विचारार्थ कर देना आवश्यक है। राष्ट्र कूटों के नवसारी के ताम्रलेखों में चेदि देश के कर्णदेव के पुत्र रणविग्रह का इस प्रकार उल्लेख है:—

"रावण के प्रबल शत्रु सहस्रार्जुन के वंश में शत्रुओं को नष्ट करने वाले चेदि नरेश कोकल्ल के पुत्र प्रसिद्ध महाराज श्री रणविग्रह हुए। ये अपने शत्रुओं की स्त्रियों के प्रख्यात शृंगार हर्त्ता थे। किंतु अपना पत्तक्षय होने के उपरान्त पृथ्वी के सभी विकल राजा इनका आश्रय लेते थे। ये सब सद् गुणों के समूह और अनन्त प्रभावशाली थे। इनकी लक्ष्मी नाम की एक पुत्री थी। इसका विवाह यदुकुलचन्द्र जगत्तुङ्ग के साथ हुआ था। * राजशेखर लिखित "सूक्ति मुक्तावली" में भी रणविग्रह का नाम आया है:। चेदि मण्डल के आभूषण तीन हैं नदियों में मेकलसुता नर्मदा, राजाओं में रणविग्रह और कवियों में सुरानन्द। †

---

* Collected Works of Bhandarker Vol. III p. 327

† नदीनां मेकलसुता नृपाणां रणविग्रहः।
कवीनांच सुरानन्दश्चेदि मण्डलमण्डनम्॥

रणविग्रह के इतने सब प्रमाण होते हुए भी यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि ये रणविग्रह कौन थे। क्या प्रसिद्धधवल मुग्धतुंग और रणविग्रह एक ही व्यक्ति थे अथवा कोकल्ल के जेष्ठपुत्र अर्जुन उनके पुत्र अंगद देव अथवा एक दूसरा सहस्त्राजुन जिसका कि उल्लेख कृष्ण तृतीय के करहाद-शिलालेख में मिलता है? कलचुरियों के दूसरे शिलालेखों में इसका पता नहीं चलता। ये थोड़े २ समय तक चेदि के अलग २ मण्डलों में राज करते रहे हैं जिनका त्रिपुरी की राजधानी से विशेप संवंध नहीं रहा। जव तक आगे खोज नहीं हुई इनका स्थान निश्चित नहीं किया जा सकता।

१०

कलचुरि-संस्कृति (१)

धर्म

कलचुरि वंश के पूर्व तथा इनके समसामयिक भारत के बहुत से राज वंश प्रायः शैव थे। वैक्ट्रियन पार्थियन शक * (ई. पू. पहली शताब्दी) कुशान कनिष्क और हूण तथा मौखरि और ओहिन्द के राजाओं की मुद्राओं पर शैव चिन्ह वृषभ की मूर्ति अथवा शिव की मूर्ति अंकित है। उनकी निर्मित मूर्तियों से भी उनका शैव होना प्रगट होता है।

---

* वासुदेव शरण अग्रवाल-कल्याण (शिवांक) शिव उपासना की प्राचीनता पृ० ४००

गुप्त काल में हमें वैष्णव-धर्म के पुनरुत्थान के प्रमाण मिलते हैं किन्तु उस काल की भी शिव मूर्तियां पाई जाती हैं। छठवीं से दसवीं शताब्दी तक भारत में शैव-मत का बहुत प्रचार हुआ था। सातवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में कुमारिल भट्ट तथा श्री शंकराचार्य के (सन् ७८८) उदय से इस आन्दोलन को और भी प्रगति मिली। माहिष्मती में मण्डन मिश्र से उनके शास्त्रार्थ होने की बात प्रसिद्ध ही है। जो काम अपने हिंसात्मक कर्मकाण्ड द्वारा कुमारिल भट्ट न कर सके वही अपनी अहिंसा, अद्वैतवाद तथा शैव मत के द्वारा शंकराचार्य करने में सफल हुए।

जिस प्रकार मौखरि आदि राजाओं ने अपने साथ परम-माहेश्वर की उपाधि जोड़ी थी * उसी प्रकार त्रिपुरी के कलचुरि राजा भी यह उपाधि धारण करने में अपना गौरव समझते थे। पौराणिक काल में त्रिपुरासुर पर शंकर-विजय की कथा प्रसिद्ध ही है। कलचुरियों का पूर्व पुरुष सहस्त्रार्जुन भी शैव था। फिर उसके वंशज क्यों न उस मत के उपासक होते? उनकी पूर्व राजधानी माहिष्मती भी महेश्वरपुर या महेश-

---

* इन्होंने छटीं शताब्दी में गुप्तों के बाद राज्य स्थापित किया......
......इनकी मुद्रा पर नन्दी का चित्र अंकित है तथा शिलालेखों में "परम माहेश्वर" की उपाधि मिलती है। (कल्याण शिवांक पृ० ८०१.

मण्डल कहलाती थी * जिससे वहां के राजाओं का शैव होना और भी स्पष्ट हो जाता है।

त्रिपुरी और शैव मत से घनिष्ट सम्बन्ध है। स्वयं त्रिपुरी यह नाम इसका सूचक है। भगवान-शिव के नामों में "त्रि" की प्रधानता है यथा "त्रिगुणं, त्रिगुणाकारं, त्रिनेत्रंच त्रयायुधम्"। त्रिपुरी की मुद्रा में भी त्रिशूल का चिन्ह है। स्वयं त्रिपुरी में त्रिपुरेश्वर के मंदिर का अस्तित्व, उसके पास ही रूपनाथ का होना, त्रिपुरी के महाराजा और महारानियों द्वारा गोलकी-मठ के लिये लाखों ग्रामों का दान देना तथा वैद्यनाथ (वर्तमान गौरीशंकर) की स्थापना यहाँ के राजाओं की शिवभक्ति के प्रमाण हैं। उनके राजगुरु भी शैव होते थे जिन्हें दूर दूर के प्रान्तों से बुलाकर मठाधीश बनाया जाता था। †

अल्हण देवी ने पाशुपत मत के तपस्वी श्री रुद्र शिव को भेड़ाघाट के वैद्यनाथ मंदिर का रक्षक नियुक्त किया था।

लाटान्वयः पाशुपतस्तपस्वी
श्री रुद्रराशिविद्यिवत् व्यधत्ताम्।

---

* देखिये प्रथम अध्याय पृः ६

† The Golaki Math by R. B. Hiralal in Journal of Bihar and Orisa Research Society.

स्थानस्य रक्षाविधिमस्य ताव
यावन्निममीते भुवनानि शम्भुः ॥

जयसिंहदेव ने भी अपने राजगुरु विमल शिव का उल्लेख किया है। *

इससे यही सिद्ध होता है कि मालवा वारंगल और सब से अधिक त्रिपुरी के सम्राट् पाशुपतपंथ के बड़े आश्रयदाता और समर्थक थे।

पाशुपतपंथ

शैवों के चार मुख्य सम्प्रदाय माने जाते हैं:—शैव, पाशुपत, कारुणिक-सिद्धान्ती एवं कापालिक। कोई कोई कारुणिक के स्थान पर कालामुख संप्रदाय का उल्लेख करते हैं। † पशुपति (शंकर) से ही पाशुपत मत की उत्पत्ति हुई। वायु पुराण में बतलाया है कि प्राणायाम की सरल विधि पाशुपत योग के

---

* Ep. Ind. Vol. II page 13
Jubbulpore Kotwali Copper plate.

† महर्षि बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य पर वाचस्पति मिश्र का टीका अ. २ प. २ सू. ३७ (कल्याण के शिवांक पृ. १६६ में उद्धृत)

नाम से प्रसिद्ध हुई। इस योगासन की मुद्राएं देवताओं की मूर्तियों में मिलती हैं। *

इसी प्रकार की मूतियां भेड़ाघाट की योगिनियों में पाई जाती हैं। शैवमत में शिव और शक्ति के प्रतीक-रूप लिंग और योनि के चिन्ह मोहन-जो-दड़ों की खुदाई में भी मिले हैं। †

इस प्रकार के चिन्ह भेड़ाघाट की मूर्तियों में भी पाये जाते हैं। शैवों के कालामुख और शाक्तों के कौलिक दोनों में इन चिन्हों की पूजा प्रचलित है।

ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी आदि सप्त मातृकाएं तथा काली कराली, कपाली आदि रुद्र शक्तियों की मूर्तियां भी मिलती हैं जिनका सम्बन्ध कापालिकों और कालामुखों से है। ‡ यहाँ पर इन सम्प्रदायों के विश्वासों का जिक्र कर देना अनुचित न होगा।

---

* Memoirs of Ar. Sur. India Vol. 42.

† Mohan-Jo-Darol and Indus civilization by Sir John Marshall. Vol. 1 p. 13

‡ मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (लेखक) म.डा. गौरीशंकर हीराचंद ओझा

"पाशुपत सम्प्रदाय के लोग महादेव को सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता और हर्त्ता समझते हैं योगाभ्यास और भस्मस्नान को आवश्यक समझते हैं और मोक्ष को मानते हैं। ये छः प्रकार के हास-गान-नर्त्तन-हुड़क्कार-साष्टांग-प्रणिपात और जप क्रियाएं करते हैं .... कापालिक और कालामुख के अनुयायी शिव के भैरव और रुद्र रूप की उपासना करते हैं। इन दोनों में विशेष भेद नहीं है। इनके छः चिह्न माला, भूषण, कुण्डल, रत्न, भस्म और उपवीत मुख्य हैं। इस सम्प्रदाय के मानने वाले मनुष्य की खोपड़ी में खाते हैं, मसान की राख से शरीर मलते तथा उसे खाते हैं। एक डण्डा और शराब का प्याला अपने पास रखते हैं और पात्रस्थित देवता की पूजा करते हैं।" *

त्रिपुरी के आसपास तीन मुखवाली मूर्तियां भी पाई जाती हैं। इस प्रकार की मूर्तियां ब्रह्मा-विष्णु और शंकर तीनों ही की भारत के दूसरे स्थानों में पाई गई हैं जिनमें एक को प्रधानता और दूसरे दो देवताओं को गौणता दी गई है। राजपूताना संग्रहालय में विष्णु और ब्रह्माणी की तथा धारापुरी में शिव की त्रिमूर्तियाँ सुरक्षित हैं। त्रिपुरी में पाई गईं तीन मुख वाली मूर्तियां

---

* मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृष्ट २२-२३

निश्चय ही शंकर की जान पड़ती हैं क्योंकि यहां शैव सम्प्रदाय की प्रधानता रही है। ऊपर कहा ही जा चुका है कि पाशुपत सम्प्रदाय वाले शिव को सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता और हर्त्ता मानते हैं। यही भावना यहाँ की त्रिमूर्तियों में व्यक्त की गई है।

दक्षिण के त्रिपुरांतकम् नामक स्थान में पाये गये शिला लेख से यह बात स्पष्ट है कि यह गोलकी मठ त्रिपुरी के अन्दर ही था जो कि भेड़ाघाट ही होसकता है। इनके अतिरिक्त लक्ष्मण राज के बिलहरी में और उनके पुत्र शंकरगण के देवरी में मठ स्थापन करने का जिक्र हो चुका है।

गोलकी मठ की शाखाएं दक्षिण में पुष्पगिरि, त्रिपुरांतकम् तिरुपर्णकोरम् और देविकापुरम् में थीं। इनका उल्लेख कड़प्पा, कुरनूल, गुन्टूर और उत्तरी अर्काट जिलों के शिला लेखों में पाया जाता है।

मधुमती जहाँ से कि सद्भावशंभु लाये गये थे वहाँ सैद्धान्तिक शैवों का प्रमुख आसन था। यह स्थान हर्षोन्मत्त मयूरों से भरा हुआ वर्णित किया गया है। संभवतः इसी कारण इस सम्प्रदाय का नाम "मत्त-मयूर" पड़ा। इस पंथ के गुरु पुरंदर थे, जिनको राजा अवन्तिवर्मन् कदम्ब-गुहा से लाये थे। उन्होंने मधुमती (मालवा) तथा रानौद (ग्वालियर) में दो मठ स्थापन किये। मधुमती में पुरंदर के बाद उनके शिष्य

चूड़शिव अधिकारी हुए। प्रभाव शिव और हृदय शिव नामक उन्हीं के दो शिष्य थे जिनमें से पहले चन्द्रेही की शाखा तथा दूसरे बिलहरी की शाखा के गुरु हुए। इनका उल्लेख कलचुरियों की प्रशस्तियों में मिलता है।

ब्रह्मा-विष्णु और शिव को एक ही मूर्ति में एकत्र करने का प्रयत्न उसी भावना का द्योतक है जिसने इन तीनों भिन्न २ सम्प्रदायों के एकीकरण का सत् प्रयत्न किया था। त्रिपुरी में इस भावना के काफी प्रमाण मिलते हैं यहाँ के लेखों में ब्रह्मा-विष्णु और शिव तीनों की स्तुतियां पाई जाती हैं। साथ ही सरस्वती, गणेश आदि देवताओं की भी स्तुतियां मिलती हैं। *

ब्रह्मा-विष्णु और शिव पूजकों में परस्पर एकता के परिणाम स्वरूप ही पंचायतन की पूजा प्रचलित हुई थी। †

त्रिपुरी के आसपास तथा भेड़ाघाट के मन्दिर में हमें यह पंचायतन मिलता है। लक्ष्मी नारायण, कार्तिकेय ‡ और गणेश

---

* अल्हण देवी का भेड़ाघाट लेख श्लोक १ से ७
तथा जयसिंह देव का ताम्रलेख श्लोक १
जबलपूर के यशःकर्ण देव का दानपत्र श्लोक १

† रायबहादुर गौ० ही० ओझाः मध्य कालीन भारतीय संस्कृति पृः २७

‡ राखालदास बंद्योपाध्यायः विशाल भारत वर्ष २ खण्ड १ संख्या १, पृ० ८६

की मूर्तियां भी पाई जाती हैं। त्रिपुरी में एक ही पत्थर पर महादेव की अन्धकासुर-वध मूर्ति तथा उसके चारों तरफ द्वादश आदित्य, नवग्रह, सप्त मात्रिका, षडगणेश, इन्द्र, वरुण तथा विश्वेदेवा की मूर्तियां विद्यमान हैं।* विशेष मार्के की बात यह है कि त्रिपुरी की मुद्रा पर शैवचिन्ह त्रिशूल के साथ बौद्ध प्रतीक चैत्य तथा वैष्णव देवी लक्ष्मी की मूर्ति अंकित है। इस समय भारत में बौद्ध धर्म मृत-प्राय हो गया था, जैन धर्म परिचित क्षेत्र में रह गया था किन्तु ब्राह्मण धर्म ही की सबसे अधिक प्रधानता थी। हिन्दू धर्म में भी शैवमत का प्रचार अधिक बढ़ रहा था। †

त्रिपुरी में शैवमत की प्रधानता होते हुए भी हिन्दू धर्म के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में काफी सद्‌भाव और प्रेम की भावनाएँ मौजूद थीं। इतना ही नहीं; त्रिपुरी में बौद्ध तथा जैन सम्प्रदाओं के प्रति भी उदारता की भावना थी जो कि यहाँ पर पाई गई बौद्ध देवी देवताओं (तारा और अवलोकितेश्वर) तथा जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों से प्रगट होता है।

इन साम्प्रदायिक विचारों के अलावा हिन्दुओं के जो

---

* त्रिपुरी में एक सुन्दर त्रिमुखी मूर्ति रक्खी है जिसे श्री राखालदास जी षडानन की मूर्ति कहते हैं।

(R. D. Banerji Haiyas of Tripuri and their monuments).

† भः भाः संस्कृति पृ० ३८

साधारण धार्मिक विश्वास हैं वे इस समय भी प्रचलित थे। शंकराचार्य के कारण वेदों को फिर से आदर का स्थान दिया गया था। कर्णावती को "वेद विद्या वल्लीकंदः" कहा गया है। किन्तु व्यवहार में वेदों तथा वैदिक क्रियाओं का प्रयोग बंद सा हो गया था। इस काल में हमें यज्ञ मार्ग का वर्णन नहीं मिलता। उसके बदले पुराणों और पौराणिक संस्कारों श्राद्ध-तर्पण आदि का काफी प्रचार था। *

शिव पुराण तथा लिङ्ग पुराणों का विशेष प्रचार दिखता है। क्योंकि राजा शैव थे और भेड़ाघाट की चौंसठ जोगनियों की मूर्तियां भी उन्हीं में वर्णित आदर्श के अनुरूप हैं। त्रिमूर्ति तथा पञ्चायतन का पाया जाना शैव और वैष्णव पंथ के समन्वय स्वरूप स्मार्त्त विश्वासों का सूचक है। मन्दिरों के साथ मठों की स्थापना भी की जाती थी। उनके लिये ग्रामों की वृत्ति लगाने का उल्लेख हो चुका है। ब्राह्मणों को दान देना धार्मिक कृत्य तथा उसका छीनना घोर पाप माना जाता था। †

---

* कर्ण ने गांगेयदेव के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर (सांवात्सरेश्राद्धे) दान दिया था।

(बनारस का ताम्रलेख)

† "योब्रह्मणां पाणिषु पञ्चपाणि
दाता निधत्ते पयसः प्रपन्ति।"

(यश कर्ण देव का ताम्र लेख)

इसमें भी भूमिदान श्रेष्ठ समझा जाता था। * तीर्थों का महत्व काफी बढ़ गया था। गांगेयदेव का प्रयाग तथा कर्णदेव का काशी को मुख्य स्थान बनाना इसके प्रमाण हैं। पवित्र नदियों में पुण्य पर्वों पर स्नान करके दान दिये जाते थे। † दान-लेखों के अन्त में भविष्य के राजाओं से भी प्रार्थना की जाती थी कि यह धर्म-सेतु सभी के लिये आवश्यक है और उसका पालन करना चाहिये।

कलचुरी कालीन वास्तु तथा मुर्ति कलाएं।

जिस प्रकार कलचुरि काल में धर्म तथा साहित्य में उन्नति हुई थी उसी प्रकार (बल्कि उससे भी अधिक) वास्तु तथा मूर्ति कलाओं का भी उत्कर्ष हुआ। कलचुरियों के भग्नावशेष समस्त चेदि प्रांत में पाये जाते हैं। इनका विस्तृत वर्णन सर अलेकजेण्डर कनिंघम ने अपनी रिपोर्ट (जिल्द ७) में किया है।

---

* नृमाल्यवान्तप्रतिमानि तानि
को नाम साधुः पुनराददीत।
सुवर्ण मेकं गामेकां भूमेरप्येक मङ्गलम्।
हरन्नरकमाप्नोति यावदाभूतसंप्लवम्॥
(कर्ण देव का बनारस का ताम्र लेख)

† त्रिपुर्यां सोम ग्रहणों रेवायां विधिवत् स्नात्वा......
(जबलपुर का ताम्र लेख)

भगवान् बुद्ध
(तेवर से प्राप्त)
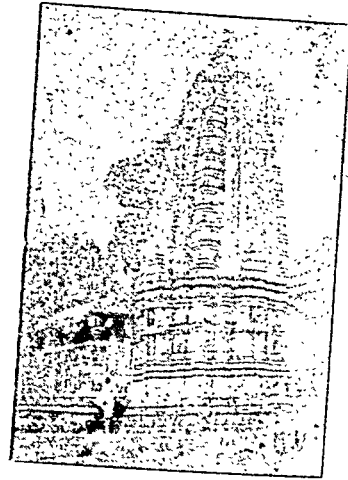
मच्छीन्द्रनाथ का मंदिर
(अमर कण्टक)

जैन तीर्थंकर
(तेवर से प्राप्त)
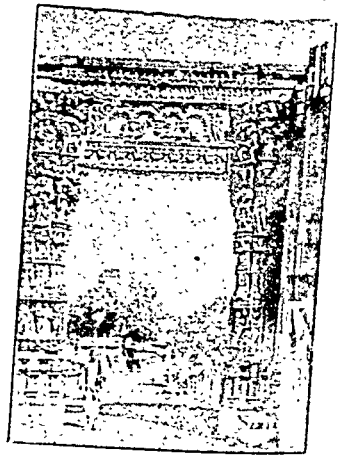
मंदिर का तोरण,
गुर्गी (रीवां)

प्रसिद्ध अन्वेषक राखलदास बैनर्जी ने भी इस विषय पर एक अत्यंत गवेषणापूर्ण ग्रंथ (Haihayas of Tripuri and their monaents) लिखा है। इन दोनों विद्वानों ने कलचुरि-कला तथा स्मारकों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

स्व० बैनर्जी समस्त स्मारकों को तीन भागों में विभाजित करते हैं। पहिले भाग में गुर्गी, चन्द्रेही, भेड़ाघाट, छोटी देवरी तथा बिलहरी के भग्नावशेष आते हैं। वे इनका समय युवराजदेव प्रथम, लक्ष्मणराज, शंकरगण तथा युवराजदेव द्वितीय का राज्य-काल मानते हैं। दूसरे भाग में गांगेयदेव, कर्णदेव तथा यशकर्ण देव के समय के मन्दिर तथा स्मारक आते हैं। ये रीवां रियासत के सोहागपुर ग्राम, अमरकंटक तथा वैजनाथ और मारई में पाये जाते हैं। तीसरे भाग में उत्तरकालीन कलचुरियों के समय के भग्नावशेष हैं। ये मुड़वारा तहसील के सिमरा, रीठी, बड़गांव, नंदचंद आदि गांवों में पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से खण्डहर जबलपूर जिले में पाये जाते हैं। यहां पर स्थानाभाव से केवल गुर्गी अमरकंटक, भेड़ाघाट, बिलहरी तथा त्रिपुरी के भग्नावशेषों और मूर्तियों का उल्लेख करते हुए उनकी विशेषताओं और सौंदर्य पर विचार करेंगे।

गुर्गी रीवां राज्य में रीवां से लगभग १२ मील पूर्व की ओर है। यहां पर एक ऊंचे टीले पर बहुत से भग्नावशेष हैं।

इनमें से एक अत्यन्त सुंदर तोरण उठाकर महाराज रीवां के महल के सामने स्थापित करदिया गया है। इसके स्तंभों पर तथा ऊपर के पत्थर पर बहुत सुन्दर चित्रकारी खुदो है। यह भगवान शिव की बारात और पार्वती के विवाह के दृश्य का चित्रण है।

यहीं पर बारह फुट आठ इंच लंवे तथा सवा पांचफुट चौड़े पत्थर पर शयन करते हुये शिव पार्वती की मूर्तियां हैं। ये वहुत सुन्दर हैं और जिस मन्दिर में ये स्थापित थीं उसके वृहदाकार का अंदाज कराती हैं। उसकी ऊंचाई लगभग १०० फुट होना चाहिये। इसका निर्माणकाल युवराजदेव प्रथम का राज्य काल माना जाता है।

विलहरी के शिला लेख से पता चलता है कि वहां पर नौहलेश्वर का एक प्रसिद्ध मठ था। किंतु अब कोई मठ यहां नहीं दिखाई पड़ता। लक्ष्मण सागर के किनारे एक किला बना हुआ है जो कि प्राचीन मन्दिरों के पत्थर से बना है। अनुमान किया जाता है कि नौहलेश्वर के मन्दिर के ही पत्थरों से यह किला बनाया गया है।

विलहरी में "काम कन्दला" मन्दिर का अवशेष है। यह एक वृहद् जलाशय के तट पर स्थित है। इस तालाब में पत्थर की सीढ़ियां बनी हुई हैं। यह पश्चिमोन्मुखी है। इसके नीचे का चबूतरा और उसके ऊपर का मण्डप दोनों नष्ट होगये
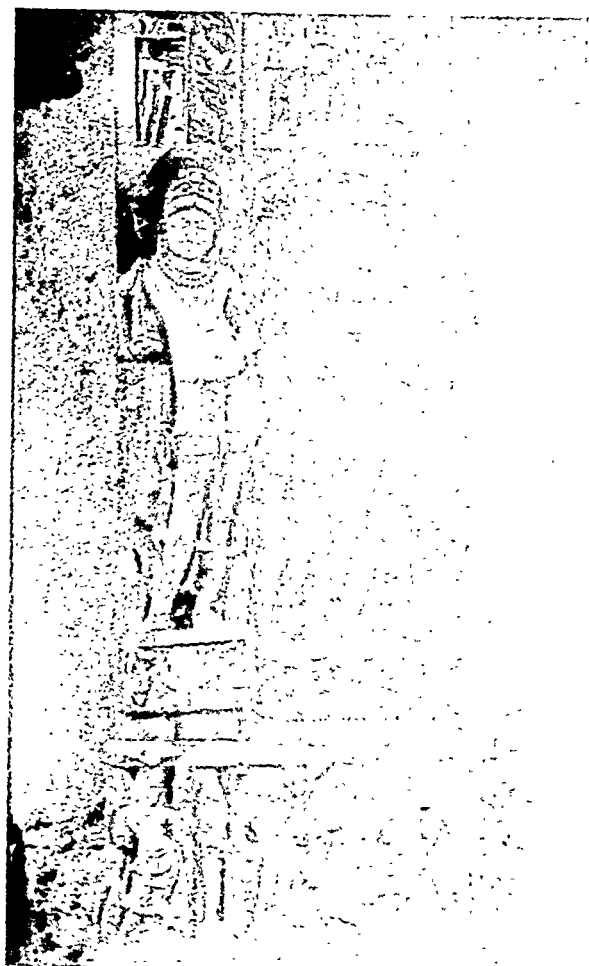
विष्णु वाराह के मन्दिर की मूर्तिकला
(दसवीं शताब्दी)
बिलहरी--

हैं। यह चबूतरा ६१ फुट लम्बा और ४७ फुट चौड़ा है। इससे मन्दिर के बड़े आकार का अनुमान होता है। इसका गर्भगृह गोल न होकर चतुर्भुजाकार है। भीतर गर्भगृह में जिलहरी और शिवलिंग अभी तक स्थित हैं। इनकी बनावट कलचुरि कालीन अर्थात् ऊपर गोल तथा नीचे अष्टभुजाकार है।

अमरकंटक के मन्दिर दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं। पहिले में बहुत प्राचीन मन्दिर हैं। इन्हें यात्रियों ने त्याग सा दिया है। इनमें त्रिपुरी के कर्णदेव का बनवाया हुआ "कर्णदहरिया का मन्दिर" प्रसिद्ध है। यह तीन अत्यन्त विशाल और शिखरयुक्त देवालयों का समूह है। आजकल ये तीन मन्दिर अलग अलग प्रतीत होते हैं किंतु किसी समय ये एक दूसरे से संयुक्त थे। इनको जोड़ने वाला महामण्डप गिर गया है। ये मन्दिर एक वर्गाकारक्षेत्र की तीन भुजाओं पर बने हैं। चौथी भुजा खाली है।

इसकी बनावट साधारण हिंदू मन्दिरों से भिन्न है। बेगलर साहिब लिखते हैं 'तीन कलशयुक्त भास्कर्य तथा मूर्तियों से परिपूर्ण शिखरयुक्त मन्दिर की अलौकिक सुन्दरता केवल देखने से ही अनुभूत की जा सकती है।'

यह मन्दिर अपने आकार तथा निर्माण शैली के कारण विशेष आकर्षण की वस्तु हो गया है। इसमें जो खुदाई का

काम है वह दृढ़ तथा साफ है। किंतु खेद यह है कि इस मन्दिर की खुदाई का काम नष्ट हो गया है और मंदिर अपूर्ण रह गया है।

अमरकण्टक में मच्छीन्द्र का भी एक मन्दिर है। इसका शिखर उड़ीसा के मन्दिरों की बनावट का है और अभी अच्छा हालत में है। इस मन्दिर का जो छप्पर है वह कर्णदेव के छप्पर के सिद्धान्त पर निर्मित है। इस मन्दिर की बनावट की भी बहुत प्रशंसा की गई है।

भेड़ाघाट में प्रसिद्ध 'चौंसठ-जोगनी' का मन्दिर है। इसका आकार गाल है। लगभग सात फुट ऊँची दीवाल १३० फुट ६ इंच के व्यास का एक वृत्त बनाती है। इसके भीतर आगे और पीछे, दोनों ओर से खम्भों पर स्थित एक गोलाकार छप्पर है। इसमें ८१ मूर्तियां के रखने के लिये खण्ड बने हुए हैं। ये सब एक मोटी दीवाल से टिकी हुई हैं।

इस मन्दिर के खम्भे और मियालें सादी है। ऐसा माना जाता है कि पहिले मूर्तियों के ऊपर वाला छप्पर नहीं था और दीवाल भी पूरी नहीं थी। वह केवल मूर्तियों को आसरा देने के लिये उनके सिर की ऊँचाई तक थीं। इसकी बनावट का ढंग बतलाता है और मूर्तियों के ऊपर की लिखावट से अनुमान
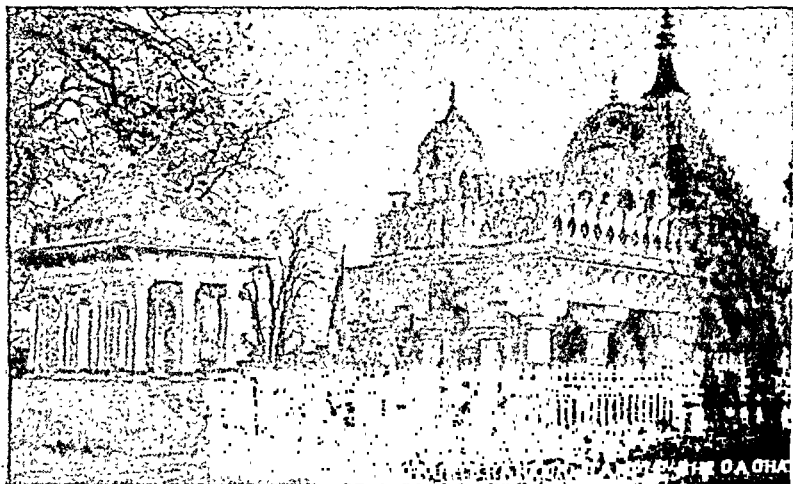
"अलहणदेवी का भक्तिभाव
अब तक तुझ में है मूर्तिमान"

—न० प्र० खरे

वैद्यनाथ (गौरीशंकर) का मंदिर
बारहवीं शताब्दी
भेड़ाघाट-

होता है कि यह दसवीं शताब्दी में बनाया गया था। लक्ष्मणराज के समय के शिलालेख की वर्णमाला से मूर्तियों के नीचे खुदे हुए अक्षर मिलते हैं। सम्भवतः बाद में ऊपर का छप्पर बनावाया गया तथा दीवाल पूरी करा दी गई। दीवाल की बनावट में दो प्रकार के पत्थरों का उपयोग इस बात को सिद्ध करता है। यह कार्य अल्हणदेवी का प्रतीत होता है। उसने अपने शिलालेख में भी इसका उल्लेख किया है। दीवाल में कुछ खुदे हुए और कामदार पत्थर लगे हैं। इनसे विदित होता है कि उक्त मन्दिर के बनाने के पूर्व यहाँ कोई दूसरा मन्दिर रहा है जिसका सामान वर्तमान मन्दिर में लगाया गया है।

चौंसठ-जोगनी के वृत्ताकार मन्दिर के भीतर गौरीशंकर का सुन्दर मन्दिर है। यह गोले के केन्द्र स्थान में नहीं है और न व्यास रेखा पर पड़ता है किंतु एक ओर को परिधि के अत्यन्त सन्निकट है। उसका मुख उत्तर की ओर है। सामने एक मण्डल है। उसके सामने नन्दी के लिये एक छज्जा है।

इस मन्दिर का अधोभाग प्राचीन मालूम पड़ता है। ऊपर का हिस्सा बाद का बना हुआ है। बाहर का मण्डप नया है। केवल उसके खम्भे पुराने हैं। कनिंघम साहब का अनुमान है कि इस घेरे के अन्दर तीन मन्दिर रहे होंगे जैसे कि अमरकण्टक के 'कर्ण-मन्दिर' में वर्तमान हैं।

मन्दिर और मण्डप के बीच में एक छोटा सा अन्तराल है। इस के दाहिने पक्ष में एक शिला लेख प्रकट करता है कि महाराज विजयसिंह देव की माता महारानी गोसलदेवी अपने पौत्र अजयसिंह देव के साथ प्रति दिन भगवान वैद्यनाथ के दर्शन करती आतीं थीं। अल्हणदेवी के भेड़ाघाट के शिला लेख में भी 'वैद्यनाथ' भगवान के मन्दिर के बनाये जाने का उल्लेख है। उससे प्रकट होता है कि गौरीशंकर का मन्दिर उन्हीं के द्वारा कलचुरि संवत ६०७ अर्थात् सन् ११५५-५६ में बनवाया गया था।

त्रिपुरी में मूर्तियों तथा एक प्राचीन बावली को छोड़कर कलचुरि कालीन अन्य कोई भी भग्नावशेष नहीं बचे। यह बावली बहुत बड़ी है और चारों ओर सीढ़ियाँ हैं। एक ओर की सीढ़ियों के ऊपर पत्थर पाटकर स्नानागार बना दिया गया है जिससे वर्षा तथा ग्रीष्म में रक्षा हो सकती है।

त्रिपुरी से थोड़ी दूर कर्णबेल में कुछ प्राचीन भग्नावशेष हैं। किंतु ये इतनी गिरी हुई अवस्था में हैं कि इनके मन्दिर की बनावट का कोई अन्दाज नहीं लगाया जा सक्ता। दो एक खम्भे जो यहां पर खड़े हैं उनकी सुन्दरता तथा उन मन्दिरों की कारीगिरी का अनुमान कराती है। दुर्भाग्यवश त्रिपुरी तथा कर्ण बेल के खण्डहरों के सब पत्थर बारिग मास्तरी के ठेकेदारों
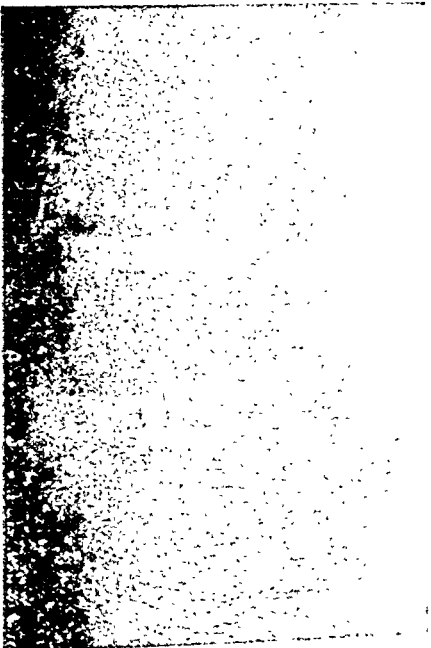
कर्णावती के भग्नावशेष

(ग्यारहवीं शताब्दी)

मधुकुञ्ज बने अब झार खण्ड, हँसते न कहीं पर मृदुल फूल।
तेरे आनन्द निकेतन में, उड़ रही आज क्यों मलिन धूल?

न० प्र० खरे।
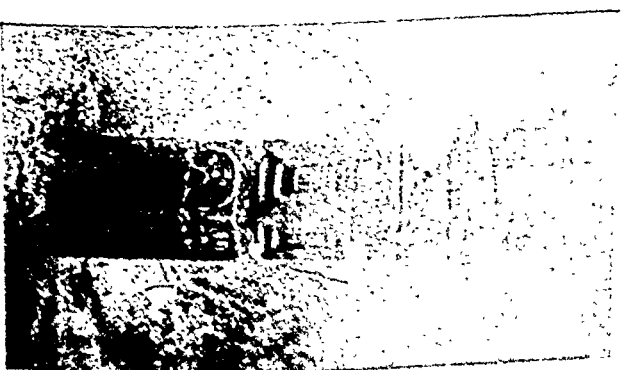
कर्णावती के मन्दिर का खम्भा

और ग्राम निवासियों ने हटा कर रेलवे पुलों तथा मेकानों में लगा दिये गये हैं। विशेष ज्ञान के लिये सामग्री मिलना कठिन हो गया है।

मूर्ति-कला

जिस प्रकार कलचुरी कालीन मंदिरों के बहुत से खण्डहर प्राप्य हैं उसी प्रकार उस समय की मूर्तियां भी पर्याप्त संख्य में मिलती हैं। राखालदास बंद्योपाध्याय ने इन्हे तीन भागों में विभाजित किया है। पहिले विभाग में सब से प्रचीन नमूने आते हैं जिनका कि समय शिला लेखों के आधार पर निश्चित किया जासकता है। ये युवराज देव प्रथम आदि के समय की हैं। इन में रीवां महाराज के महल के सामनेवाले तोरण की मूर्तियां सब से प्रचीन है। इस गुर्गी वाले तोरण में बहुत ही अच्छी कारीगरी का काम किया गया है। उस में जो मूर्तियां खोदी गई हैं वे अपने भिन्न भिन्न अंगों के अनुपात, गठन तथा विन्यास की दृष्टि से अत्यन्त पूर्ण तथा सुन्दर हैं। इन में कुछ स्त्री तथा पुरुष मूर्तियां सम्भवतः वात्सायन के कामसूत्र के स्पष्टीकरण के लिये बनाई गई हैं; किन्तु ये अश्लील नहीं हैं। इन में कई स्त्री मूर्तियां अत्यन्य ही चातुर्य से बनाई गई हैं। इनके समान कुछ मूर्तियां कलकत्ता म्यूजियम में संरक्षित हैं जो कि उड़ीसा के भुवनेश्वर के मन्दिर से लाई गई थीं।

गुर्गी से प्राप्त शिव दुर्गा की मूर्ति, शिव पार्वती की अन्य मूर्तियों से भिन्न हैं। जैसा कि बतलाया जाचुका है यह १३ फुट लम्बे और पांच फुट चौड़े पत्थर पर बनी है। शिव और पार्वती एक दूसरे की बराबरी से खड़े हैं। शिव का बाँया हाथ टूट गया है। शिव की मूर्ति के पीछे नादिया की मूर्ति है और एक गण भी खड़ा है। दहिनी ओर एक सिंह तथा दाढ़ी वाले एक सेवक की मूर्तियां हैं। यह मूर्ति कला तथा सफाई की दृष्टि से पूर्ण है।

भेड़ाघाट के मन्दिर की मूर्तियां भी उपरोक्त विभाग में आतीं है। इन मूर्तियों में दो प्रकार की सम्मिलित हैं। कुछ कुशान कालीन प्रतीत होती हैं जिनका जिक्र पांहले किया जा चुका है। इनकी बनावट स्थूल है और ये सब खड़ी हैं। इन में लेख नहीं है। दूसरे विभाग में बैठी हुई मूर्तियाँ आतीं है। इनके नीचे इनके नाम लिखे हैं। इनमें से प्रायः सभी मूर्तियाँ खंडित हैं। इनकी बनावट सुडौल है। मुख मुद्रा के विकाश के ऊपर विशेष ध्यान दिया गया है। शरीर की बनावट भी उन्नत है किंतु इसमें आदर्श पर अधिक ध्यान देने से स्वाभाविकता में कमी आगई है। वक्ष प्रदेश अधिक उन्नत कर दिया गया है और कटि की सूक्ष्मता भी बढ़ा दी गई है। आभूषणों की बहुतायत से शरीराच्छादन के लिये वस्त्रों पर कम ध्यान दिया गया। है मुख्य

कमल पर विराजमान,
योगिनी-मूर्ति

पद्मासन, ध्यानावस्थित
योगिनी-मूर्ति

(दसवीं सदी)
चौसठ-योगिनी मन्दिर

मूर्तियों के नीचे छोटी छोटी सुन्दर मनुष्य मूर्तियाँ हैं। इनके आकार प्रकार तथा अंग गठन अधिक स्वाभाविक हैं। इनमें से कुछ नग्न है। वहुत सी मूर्तियाँ अपने सुन्दर रौप्य, स्वर्ण तथा अन्य अमूल्य अलंकारों के साथ मुण्डमाला भी पहिने हुए हैं। कोई कोई मूर्तियाँ भयंकर तथा रौद्र वेष में हैं।

चौसठ जोगिनियों में एक मार्के की मूर्त्ति गणेश के स्त्री रूप की है। अन्य मूर्तियों के नीचे श्री ढाकिनी, श्री वीरेन्द्री, श्री फणेन्द्री, श्री छत्रधारिणी, श्री शतनुशंवरा, श्री भीषणी, श्री वैष्णवी, श्री घंटाली, श्री ठिक्किनी, श्री जहा, श्री रंगिणी, श्री दर्पहारिणी, श्री वन्धनी, श्री जाह्नवी आदि नाम पाये जाते हैं जोकि कापालिकों कालामुखों द्वारा पूजित देवियों के भिन्न २ नाम तथा रूप जान पड़ते हैं।

सारांश यह कि मूर्तियाँ वहुत सुन्दर हैं और इनके देखने से प्रतीत होता है कि शिल्पी अपने मानसिक चित्रों को सफलता पूर्वक पत्थर में स्वरूप देसका है। ये मूर्तियाँ सचमुच में निपुण हाथों द्वारा वनाई गई हैं। आज कल जयपुर से जो मूर्तियाँ लाकर मन्दिरों में स्थापित की जाती हैं उन से कला की दृष्टि से ये श्रेष्ठ दीखती हैं।

मन्दिर के भीतर गौरीशंकर की मूर्ति मुख्य है जिसमें शिव और दुर्गा नन्दी पर वैठे हुए हैं। नन्दी का मुख दाहिना

ओर है । दोनों देवताओं के दो दो हाथ हैं। शिव के हाथ में त्रिशूल तथा पार्वती के हाथ में दर्पण है। नंदी के पैरों के बीच में दो मनुष्य मूर्तियाँ किसी चीज के आजू बाजू बैठी हैं। नंदी की दाहिनी ओर एक खड़ा हुआ तथा एक घुटने टेक सेवक विद्यमान है । बाईं ओर एक मोटा बौना खड़ा है और पास ही कार्तिकेय अपने मोर पर सवार हैं।

गौरीशंकर की मूर्ति के ऊपर दोनों तरफ के खंभों पर ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियाँ हैं जिससे त्रिमूर्ति की एकता सिद्ध होती है। उनकी दाहिनी ओर सूर्य तथा बाईं ओर विष्णु की सुन्दर मूर्ति है जो कि गरुड़ पर बैठे हैं और लक्ष्मी को गोद में लिये हैं। बाईं ओर की दीवाल पर अष्टभुजी गणेश की मूर्ति है जो कि गौरीशंकर के बाद सबसे सुन्दर मानी जाती है । इसमें गणेश जी नाचते हुए दिखाये गये हैं तथा हाथों में पाश परशु आदि आयुध लिये हुए हैं।

यह मूर्ति बहुत चातुर्य पूर्ण है और बनावट में सुन्दर है। इसकी बनावट का ढंग उसी प्रकार का है जैसा कि योगिनियों की मूर्तियों का है। अतः इन दोनों का समय एक ही होना चाहिये ।

मन्दिर में विष्णु, सूर्य, गणेश, आदि अनेक दूसरे
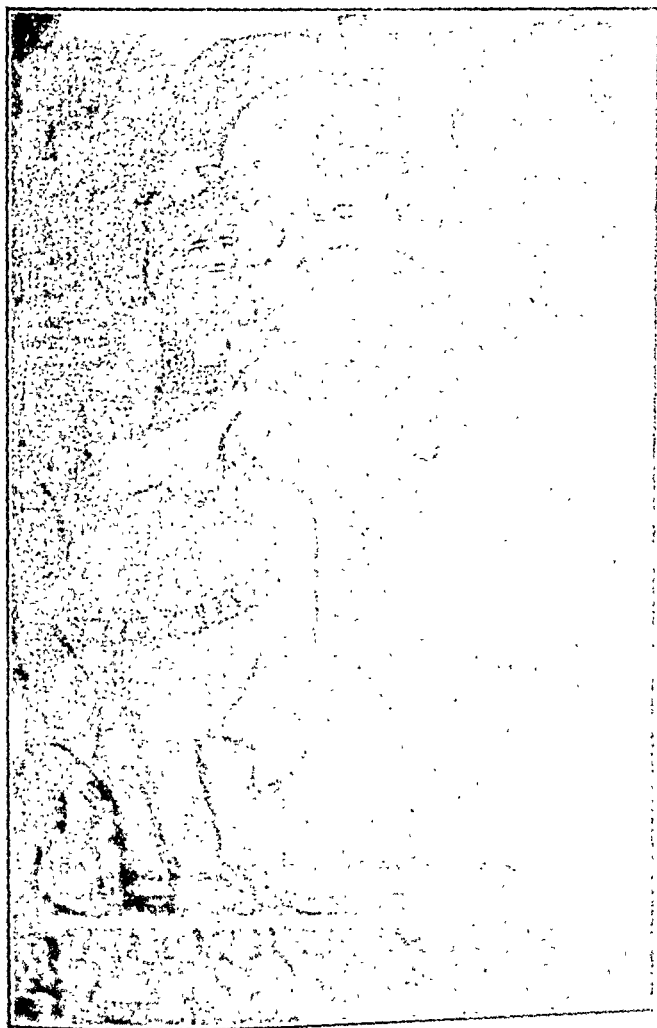
चौंसठ जोगिनी मठ के वैद्यनाथ (गौरीशंकर) भेड़ाघाट

शिव पार्वती

त्रिमुख, द्वादशबाहु कार्तिकेय

—ग्यारहवीं सदी

तेवर की प्राचीन बावली के निकट

देवताओं की मूर्तियाँ विराजमान हैं। इनमें एक मूर्ति तारा की भी थी। वह निकाल कर बाहर रखदी गई है।

दूसरे भाग में गांगेयदेव, कर्णदेव तथा यशः कर्णदेव के समय की मूर्तियाँ आती हैं। इनमें प्रस्तरखचित सामूहिक चित्र (Bas-relief) अधिक हैं। इनके सबसे उत्तम उदाहरण तेवर की बावली के समीप खेरमाई के मंदिर के समीप की मूर्तियाँ हैं। इसी स्थान पर लगभग पौने चार फुट लम्बे तथा दो फुट चौड़े पत्थर पर एक चित्र है। एक मनुष्य विस्तर पर लेटा हुआ है और एक स्त्री झुक कर उसके कान में कुछ कह रही है। वह कान में हाथ लगा कर सुनने का प्रयत्न करता है। उसका दहिना पैर बाँये पैर पर रखा हुआ है। उसके पैरों की ओर ऊँची गोल गद्दियों पर बैठी हुई तीन स्त्रियाँ बात चीत कर रही हैं।

तेवर की खेरमाई के पास एक तीन मस्तक वाली कार्तिकेय की मूर्ति है। यह बहुत कुछ टूट फूट गई है। तो भी तेवर में जितनी मूर्तियाँ मिली हैं उन में यह सर्व श्रेष्ठ है। कार्तिकेय पृथ्वी पर खड़े हैं उनका वाहन मयूर पीछे खड़ा है। मूर्ति के तीन सिर और बारह हाथ हैं। हाथ सब टूटे हुए हैं। उनके दोनों ओर दो दासियां खड़ी हुई हैं। इनके हाथ में मालाएँ हैं। सामने

चार सेवकों की नग्न मूर्तियां हैं। इन मूर्तियों की ऊँचाई सवा तीन फुट है।

खेरमाई के मन्दिर में और भी बहुतसी मूर्तियां हैं। इनमें एक शिव की लीलाएँ चित्रित करने वाली मूर्ति अद्वितीय मानी गई है। यह तीन भागों में विभाजित है। एक भाग में चतुर्भुज शिव अान्धकासुर का बध कर रहे हैं। इनके हाथों में त्रिशूल डमरू और कपाल है। दूसरे में शिव पार्वती नन्दी पर आसीन बतलाये गये हैं। बाकी के हिस्सों में गणेश सर्प इत्यादि की अनेक मूर्तियाँ हैं।

तेवर में गणेश की भी सुन्दर मूर्तियाँ हैं। इनके अतिरिक्त शिवलिंग भी बहुत से हैं। ऐसी भी अनेक मूर्तियाँ है जिनको कि पहिचाना नहीं जा सकता। एक ढेर मूर्तियों के फूटे टूटे टुकड़ों का लगा हुआ है। इनमें से कोई कोई मूर्तियाँ अपने भाव प्रदर्शन तथा सफाई की दृष्टि से बहुत सुरम्य हैं। इनसे कलचुरि कालीन कला की अवस्था का ज्ञान होता है। वह अत्यन्त उन्नति का युग था।

तीसरे भाग में यशः कर्णदेव के बाद की मूर्तियाँ आती हैं। इस समय का तिथि सहित केवल एक ही नमूना है। यह एक बड़ी भारी जैन मूर्ति है। इसकी ऊँचाई सवा बारह फुट तथा चौड़ाई चार फुट के लगभग है। यह कानिंघम साहब को बहुरी-

ध्यानावस्थित एक बुद्ध मूर्ति—
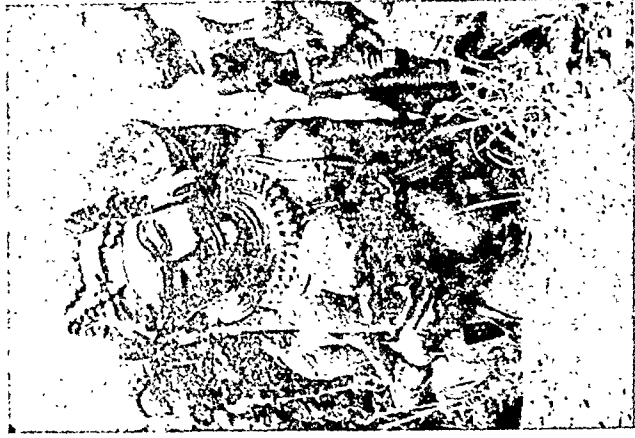
देवी की मूर्ति—

(ग्यारहवीं सदी)
खेरमाई का मंदिर, तेवर।

वन्द में मिली थी। इस पर एक लेख है जिसमें गयाकर्ण देव का नाम लिखा है और विक्रम संवंत् में तिथि भी दी गई है जो कि पढ़ी नहीं जा सकती । इस लेख की दूसरी पंक्ति में राष्ट्रकूट वंशोत्पन्न महासामन्ताधिपत्ति गोल्हण का नाम पड़ा है। इससे यह निश्चित किया गया है कि यह मूर्ति विक्रम संवत् की ११ वीं सदी की है।

इसके अतिरिक्त अमरकण्टक में नर्मदा की तथा चार अन्य देवाताओं की मूर्तियाँ इसी युग की बनवाई हुई मिलती हैं। दूधिया और देवताल में भी इस समय की कुछ मूर्तियाँ हैं। ये सब कलचुरि कालीन सभ्यता की उन्नत अवस्था की परिचायिका हैं।

त्रिपुरी में ध्यानावस्थित बुद्ध की एक अत्यन्त सुन्दर तथा भाव पूर्ण मूर्ति प्राप्त हुई है। इसी भांति की एक जैन तीर्थांकर की मूर्ति त्रिपुरी से हटाकर करसट जी के बंगले में रख दी गई है। इनका समय अनिश्चित है। निर्माण शैली के अनुसार ये तीसरे भाग में रखी जा सकती हैं। बुद्ध मूर्ति कलकत्ता संग्रहालय में है।

११

कलचुरि कालीन संस्कृति (२)

शासन-समाज-साहित्य

यद्यपि राज्यशासन उस समय वह राजा सर्वोपरि था किंतु वह सर्वेसर्वा नहीं था। उसे सलाह देने केलिये मंत्रि मण्डल रहता था। महारानी और महाराज पुत्र (राजकुमार) भी राज्य शासन में हाथ रखते थे। महाराज जयसिंहदेव के दान के समय उपस्थित अधिकारियों की सूची से हमें इनका पता लगता है। * प्रधान मंत्री को "महामात्य" कहते थे। शास्त्रीय मामलों में राजगुरु, धार्मिक क्रिया-

---

* जयसिंहदेव का ताम्रपत्र।

कलापों में "महापुरोहित" तथा प्रजा का न्याय करने के लिये "धर्म प्रधान" नामक अधिकारी नियुक्त थे। इसके अलावा आय व्यय का अधिकारी "महाप्रधानार्थलेखि" या अर्थ सचिव (Finance Minister) था। युद्ध कार्यों का अधिकारी 'सांधिविग्रहिक' कहलाता था और दंड देने वाला "दुष्टसाध्य" जो कि आधुनिक कोतवाल के समान जान पड़ता है। गुप्त काल में इसी प्रकार "चौरोद्धरणिक" होता था। पालों के लेखों में इसे "दौसाध्यसाधनिक" कहा गया है। "महासामन्त" (Generelessimo) सेना का प्रधान सचिव ज्ञात होता है। हिसाब रखने वाला "अक्षपटलिक" कहलाता था। जान पड़ता है इन आठ मंत्रियों (अष्टामात्यों) की एक मंत्रि परिषद् होती थी। इनके अलावा "प्रमत्तवार"* नामक अधिकारी का उल्लेख मिलता है जो कि शायद उन्मत्त प्रजा की देखरेख करता था। "महाकरणिक" करों का अधिकारी था। ओझा जी इसे वर्तमान रजिस्ट्रार के समान बतलाते है। "प्रतीहार" प्रधान अंग रक्षक था।

---

* हीरालाल सा. इसे "प्रमातृ" का अपभ्रंश बतलाते हैं।

सैन्य संगठन

सेना का संगठन भी काफी मजबूत था। सेना चतुरङ्गिणी रहती थी। * इनके दो अधिकारी 'अश्वसाधनिक' तथा 'भाण्डागारिक' (भण्डारी) का वर्णन किया गया है। गुप्तकाल में इसे 'रणभाण्डागाराधिकरण' कहते थे। अश्वसाधनिक के समान गज, रथ तथा पदाति सेना के लिये भी अगल अलग अधिकारी होंगे। सेना नायक को 'महाध्यक्ष कहते' थे। गुप्त काल में इसे 'महासेनापति' 'महाबलाध्यक्ष' या 'महाबलाधिकृत' भी कहते थे।

कलचुरियों का शासन सब प्रकार से सुव्यवस्थित तथा संघटित था। इन अधिकारियों के सामने "महा" शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि इनके आधीन बहुत से कर्मचारी रहते थे। †

ग्राम शासन

समस्त साम्राज्य भुक्ति (प्रान्त) विषय (जिला) और ग्राम में बँटा हुआ था। भारत की प्राचीन ग्राम-संस्था जिन पर साम्राज्यों के बनने और बिगड़ने से कोई असर नहीं

---

* संघट्टचारुचतुरङ्गचम् प्रचारम्

† मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ० १६०

पड़ता था, उस समय भी स्थापित थी। आन्तरिक शासन के लिये ये संस्थाएँ प्रायः स्वतंत्र तथा स्वावलंबी रहती थी। ग्रामीण विभागों के वर्णन से जान पड़ता है कि ग्राम सँस्थाएं सुसंगठित तथा सुशासित थीं। जल और स्थल विभागों के अलावा आम और महुए के फलदार वृक्ष रहते थे। नमक की खदानों (लवणाकरः) से नमक निकाला जाता था। गढ़ों और ऊसर जमीनों (गर्तोपरः) का अलग विभाग था। गाँव में आने जाने के रास्ते (निर्गम प्रवेशः) तथा पशुओं के रास्ते (गो प्रचारः) अच्छी तरह बनाये जाते थे। लकड़ी के लिये जंगल तथा खेती के लिये 'अनूप जमीन (जाङ्गलानूपः) अलग रहती थी। गांव के समीप सुन्दर बड़े बड़े बगीचे (आराम) और फुलवारियाँ (उद्यान) रहती थीं। पशुओं के लिये गोचर भूमि (तृण) नदी पर्वत तथा गांव की सीमाएँ अच्छी तरह निश्चित रहती थीं। जलाशयों पर सुन्दर घाट बने रहते थे।

करनीति

इतनी व्यवस्था के लिये करों की भी आवश्यकता थी। उन्हें आदाय, कहते थे। जमीन के लगान को 'भागकर' कहते थे क्योंकि राजा उपज का छटवां या आठवां भाग लेता था। गांव में आकर ठहरने वालों से 'प्रवणिवाड' नामक कर लिया जाता था। पशुओं पर "चरी" वसूल की जाती थी।

ताड़ी आदि निकालने वालों से लिये जाने वाले कर को "रसवती" कहते थे। "कामत" नामक कर सीर जमीन पर लिया जाता था। नदी के घाटों पर लगने वाले करको "विसेणि" तथा गाँव के मुखिया के लिये नियुक्त कर को "पट्टकिलादाय" कहते थे। अपराधियों पर लगाया गया दण्ड "दुष्टसाध्यादाय" तथा प्रान्तीय कर "विषयिकादाय" कहलाता था।

ग्राम निवासी तथा देश वासियों को खास खास अवसरों पर बुलाकर यथोचित सम्मान करना, समझाना तथा राजाज्ञाएँ सुनाना, राजा लोग अपना कर्तव्य समझते थे।* इन सब बातों से पता लगता है कि उस समय प्रजा अत्यन्त सुखी और संतुष्ट थी।

सामाजिक-अवस्था

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था तथा उसकी कट्टरता उसी प्रकार वर्तमान थी। इस काल में ब्राह्मणों का बहुत आदर था यद्यपि किसी समय यह प्रान्त ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष का केन्द्र रह चुका है।

---

* ग्राम निवासि जनपदाश्चाहूय यथार्हं मानयन्ति बोधयन्ति समाज्ञापयन्तिच। (जयसिंह देव का ताम्र लेख)

पद्म पुराण के रेवाखण्ड में भेड़ाघाट का पुराना नाम भृगुक्षेत्र ही पाया जाता है। आज भी यहां भृगु का चबूतरा देखा जा सकता है। पुराणों में कार्त्तवीर्य अर्जुन तथा भार्गव परशुराम के का वर्णन आता है। जान पड़ता है कि भृगु इसी स्थान के निवासी थे और कार्त्तवीर्य पास ही माहिष्मती का राजा था।

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस युद्ध को भारतीय-इतिहास के ब्राह्मण-क्षत्रिय-संघर्ष का उदाहरण मानकर उसका अच्छा विवेचन किया है। *

महाभारत से हैहयाधिपति कार्तवीर्य तथा जामदग्न्य राम के युद्ध का संक्षिप्त वर्णन यहां दिया जाता है:—

"राम ने हैहयवंशियों के अधिपति अर्जुन को मारा था जिसके हजार भुजाएं थी। दत्तात्रेय के प्रसाद से इसने एक सुवर्ण का विमान बनवाया था और इसके पास पृथ्वी पर सब प्राणियों से अधिक ऐश्वर्य था। इसने सब प्राणियों को पीड़ित कर डाला। विष्णु ने इन्द्र के साथ अर्जुन को

---

* Viswa Bharati Quarterly.

मारने की सलाह की। कान्यकुब्ज देश के गाधि नामक राजा की पुत्री सत्यवती से भृगु के पुत्र ऋचीक का विवाह हुआ।

इनसे जमदग्नि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। ये वेद-विद्या और धनुर्विद्या में बड़े दक्ष थे। इन्होंने राजा प्रसेनजित् की पुत्री रेणुका से विवाह किया। इनसे पांच पुत्र उत्पन्न हुए जिसमें परशुराम सब से छोटे थे। किसी समय कार्त्तवीर्य ने जमदग्नि के आश्रम पर हमला किया और गाय छीन ले गया। परशुराम ने कार्तवीर्य की भुजाएं काट डालीं किन्तु उनके सूने में दुष्टों ने जमदग्नि को मार डाला। परशुराम ने जब यह समाचार सुना तो कार्तवीर्य के सारे पुत्रों तथा उनके साथियों को मार डाला और इक्कीसवार पृथ्वी को क्षत्रियों से शून्य कर पांच रक्त कुण्ड बनाये। इस प्रकार उन्होंने क्रम से पृथ्वी को जीत लिया। *

वर्ण व्यवस्था

इस कहानी से जान पड़ता है कि इस प्रान्त में भी भारत व्यापी ब्राह्मण-क्षत्रिय-संघर्ष का श्री गणेश हुआ था तथा उसके मुख्य पात्र यहीं के निवासी थे। किन्तु जिस काल

---

* महा० वनपर्व अ० ११५-११७

का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय कोई ऐसा संघर्ष नहीं दीखता। उस समय ब्राह्मणों का काफी आदर था; वे राजगुरु बनाये जाते थे तथा उन्हें भूरि भूरि दान दिये जाते थे।

ब्राह्मण क्षत्रियों के पहिले आपस में विवाह संबंध होते थे वे इस समय प्रचलित नहीं जान पड़ते। क्षत्रियों की भिन्न भिन्न उपजातियों जैसे चालुक्य सोलंकी तथा कलचुरियों में विवाह होने के उदाहरण हैं। राजा कर्ण ने तो हूण वंश की कन्या तक से विवाह किया था। उपजातियाँ बढ़ना शुरू हो गया था और उनमें कट्टरता भी प्रवेश कर गई थी। ब्राह्मण अपने नामों के सामने शर्मा आदि उपाधियाँ तथा अपने गोत्र प्रवर आदि का उल्लेख करने लगे थे। *

क्षत्रिय भी अपने पीछे 'वर्मा' 'ठक्कुर' आदि का प्रयोग करने लगे थे। † वैश्यों व शूद्रों का अधिक उल्लेख नहीं मिलता। ये लोग अपने अपने कार्यों में व्यस्त रहते थे। शैवमत में शूद्रों की स्थिति पहिले की अपेक्षा कुछ अधिक उन्नति अवश्य हुई।

---

* अगस्त्य गोत्राय त्रिप्रवराय पण्डित श्री देल्हण शर्मणे......

† ठक्कुर श्री दशमूलिक ('जबलपुर का ताम्रलेख)

स्त्रियों का स्थान

समाज में स्त्रियों का स्थान काफी आदर का था। राज-घराने में तो महारानी राज्य-यंत्र का एक अनिवार्य अङ्ग समझी जाती थीं। सती प्रथा प्रचलित जान पड़ती है। गाङ्गेयदेव के साथ उनकी सौ स्त्रियों के मोक्ष प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। इससे राजाओं में बहुविवाह का प्रचलित होना भी सिद्ध होता है। धर्म में शक्ति पूजा के प्रवेश के कारण मातृशक्ति स्वरूपा स्त्रियों का आदर बढ़ना स्वाभाविक था यद्यपि वाम मार्ग के दुरुपयोग के कारण कुछ व्यभिचार का भी प्रवेश हो गया था। उमा महेश्वर के दाम्पत्य प्रेम और सतीत्व का आदर्श समाज में सुखी दाम्पत्य जीवन का प्रेरक था। *

स्त्रियों में शृंगार, सौंदर्य कला और गुण प्रशंसित माने जाते थे। †

---

* विवाहविधिमाधाय गयकर्णो नरेश्वरः।
चक्रे प्रीतिं परामस्यां शिवायामिव शङ्करः॥
(अल्हणदेवी का लेख श्लोक २३)

† शृंगारशाला कलशी कलानां
लावण्यमाला गुणपुण्यभूमिः॥
(वही-श्लोक २४)

आभूषणादि

समाज में धन धान्य की समृद्धि होने के कारण आभूषणों का प्रयोग होना स्वाभाविक है। देवी तथा देवताओं दोनों की मूर्तियों पर हमें इन भूषणों की भरमार दिखती है। हार, मुकुट, कंकण, वन-माला, बाजूबंद, करधनी, (किंकिणि) बड़े २ कर्णफूल तथा नूपुर कला-कृतियों में मिलते हैं। किंकिणी से जंघाओं तक लटकता हुआ एक और आभूषण हमें मूर्तियों पर दीखता है। इनसे यह भी पता लगता है कि उस समय इन चीजों के अच्छे अच्छे कारीगर भी रहे होंगे।

भाषा और लिपि

लेखों की भाषा संस्कृत तथा उनकी लिपि नागरी। है इस समय तक संस्कृत भाषा काफी सुसंस्कृत हो चुकी थी, तभी उस में उच्चकोटि के काव्य तथा नाटक लिखे जासके। एक प्राकृत श्लोक भी लेख में मिलता है। * गद्य तथा पद्य दोनों ही काफी उन्नत हो चुके थे। नागरी लिपि के कुछ अक्षर वर्तमान अक्षरों से कुछ भिन्न थे जैसे-र. और ज.। ये बङ्गला अक्षरों से मिलते जुलते हैं। पुस्तक के मुख पृष्ठ पर दिये गये अक्षर मुद्राओं

---

* बनारस का ताम्रलेख श्लो० १२

तथा लेखों पर पाये गये अक्षरों के नमूने हैं। 'व' के स्थान पर 'ब' 'श' की जगह पर 'स' 'ष' की जगह 'श' का प्रयोग ही अधिक किया गया है। इन वर्णों में विशेष अन्तर न होने के कारण इनका प्रयोग होता था।

शिक्षा-प्रणाली

बौद्धों के संघाराम और हिन्दुओं के मठ मध्यकाल में शिक्षा के केन्द्र थे। चीनी यात्रियों के वर्णनों से पता चलता है कि उस काल में भारत में ५००० मठ विद्यमान थे जिनमें २ लाख से अधिक विद्यार्थी पढ़ते थे। दूर देश के विद्यार्थी भी उनमें पढ़ने जाते थे।

त्रिपुरी का गोलकी मठ भी इसी प्रकार का एक शिक्षालय था जिसमें लाखों ग्रामों की वृत्ति लगी हुई थी। नालंदा विद्यालय में केवल २०० गांव लगे हुए थे*। इस गोल की मठ में तीस लाख गांव लगे थे। इसे बड़ा भारी विश्व विद्यालय कहा है। अवश्य ही इसमें विद्यार्थीयों की संख्या काफ़ी रही होगी। मठ के साथ ही बड़ी भारी व्याख्यान शाला बनवाई गई थी जो कि शिक्षालय का काम देती होगी†।

* मा. भा. सं. पृ. १४३

† व्याख्यान शाला उद्यानमाला मविकलाममून्

(अल्हण देवी का लेख) श्लो० २८

यह मठ पाशुपत संप्रदाय के सन्यासियों के अधिकार में था अतः सांप्रदायिक शिक्षा का विशेष प्रबन्ध होगा। इसके अलावा साधारण शास्त्रों का ज्ञान जो अन्य विश्व विद्यालयों में दिया जाता था वह भी यहां दिया जाता होगा। जैसे वेद गणित ज्योतिष तर्क शास्त्र व्याकरण तथा वैद्यक*। जब इस मठ के आचार्य "समस्त गंभीर शास्त्रार्णव पार दृश्वा" थे और अपनी शिष्य मण्डली द्वारा सारी दिशाओं को जीत लिया था (दिङ् मण्डली शिष्य गणैर्विजिग्ये) तब अवश्य ही ये विद्यार्थी इसी मठ में शिक्षा पाकर निकले होंगे और सब शास्त्र इस मठ में पढ़ाये जाते होंगे। लेखों में जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख है, जिस साहित्यिक उत्कर्ष का प्रमाण है और त्रिपुरी में जिस वास्तु कला के नमूने हमें मिलते हैं उससे स्पष्ट हो जाता है कि इन विद्याओं की उन्नति बिना शास्त्रीय शिक्षा प्रणाली के होना असंभव है।

काशी प्राचीन काल से शिक्षा का केन्द्र रही है। इसी प्रकार दक्षिण के मठ भी विद्या के केन्द्र थे। इन सभी से गोलकी मठ के आचार्यों का संबंध था। कर्ण का काशी से राजकीय संबंध तो था ही। अतः त्रिपुरी का भी शिक्षा केन्द्र होना स्वाभाविक ही था।

---

* न. भा. सं. पृ. १८३

साहित्य

कलचुरि राज्य के समय के साहित्य का विशेष परिचय हमें कविराजशेखर के नाटकों से मिलता है जो कि युवराज देव की सभा के पण्डित थे। * इनके वाल रामायण, विद्ध शाल-भंजिका तथा कपूर मंजरी नाटक प्रसिद्ध हैं। राजशेखर ने कविश्रेष्ठ सुरानन्द का भी उल्लेख किया है। इसके अलावा कलचुरियों के शिला तथा ताम्रलेखों के लेखक जय-सिंहदेव के श्रीवत्सराज, पृथ्वीधर उनके पुत्र माहेश्वर धरणीधर तथा शशधर मौन बड़े ऊँचे पण्डित तथा कवि थे। कहा गया है कि धरणीधर ने अपनी विद्या से, तीनों लोकों को दीपित कर रक्खा था (त्रिभुवनं दीपायितं येन)। इन लेखों की विविध छन्द योजना उपयुक्त शब्द-शैली तथा मनो-मोहक अलङ्कारों के प्रयोग से इनका छंद व्याकरण तथा अलंकार शास्त्रों का ज्ञान प्रगट होता है। छन्दों की यति-भङ्ग को वचाने के लिये उन्होंने व्याकरण के कुछ अशुद्ध प्रयोग कहीं कहीं पर किये हैं। † किंतु कुछ लोगों के मत में छन्दोभङ्ग वचाने के

---

* कोई २ इन्हें मालवा दरबार के पण्डित मानते हैं।

† "चकपे वङ्गः कलिङ्गैः सह" पद में "चकपे" की जगह "चकम्पे" होना चाहिये था। किन्तु इससे छन्दो भङ्ग हो जाता।

लिये व्याकरण की अशुद्धियाँ भी क्षन्तव्य हैं:—

"अपि मापं मपं कुर्यात्
छन्दो भङ्गं न कारयेत्।"

इनकी छन्द रचना तो बड़ी ही सुन्दर है। बड़ी उत्तमता के साथ मालिनी, उपेन्द्रवज्रा, औपच्छन्दशिका, वसन्त-तिलका, आर्या, उपजाति, शालिनी, भद्र-विराज, अनुष्टुप, स्वागता, शार्दूलविक्रीड़ित, आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। इन से उपवन के विविध सुन्दर सुमनों के समान लेखों का सौन्दर्य बढ़ जाता है।

उदाहरण स्वरूप भिन्न २ अध्यायों में उद्धृत श्लोक देखे जा सकते हैं।

चन्द्रमा को गगन रूपी तड़ाग के राज हंस की उपमा (गगनाभोगतड़ागराजहंसः) कितनी सुन्दर है। एक जगह वर्णन है "इसने राजा शब्द केवल चन्द्रमा ही के लिये उपयोग होने दिया:—राजेति नाम शशलक्ष्मणि चक्रे यः। युवराज देव का वर्णन करते हुए लिखा है :—

आसीन्मदान्धनृप गंधगजाधिराज
निर्माथ केसरि युवा युवराज देवः।

इसमें शब्दों का सौन्दर्य देखते ही बनता है। कर्ण देव के द्वारा दलित शत्रुओं के हाथियों के कुंभों से निकले हुए मुक्ता फलों द्वारा दिशाओं की अर्चना करने की कल्पना भी अच्छी जान पड़ती है :—

पुत्रोऽस्य खड्ग दलितारि करीन्द्रकुम्भ
मुक्ताफलैः स्म ककुभोर्चित कर्ण देवः।"

नीचे के श्लोक में आवल्ला देवी को हूणवंश रूपी समुद्र की लक्ष्मी से उपमा दी गई है तथा उनके पुत्र यशःकर्ण को चन्द्र के समान बताया गया है। उनका यश, समुद्र की लहरों के समान विस्तृत है क्योंकि लहरें उन्हें चन्द्र समझकर उनकी ओर आकर्षित हो रही है :—

अजनि कलचुरीणां स्वामिना तेन हुणा
न्वयजलनिधिलक्ष्म्यां श्रीमदावल्लदेव्याम् ॥"
शशभृदुदय शङ्का क्षुब्ध दुग्धाब्धिवीची
सहचरितयशःश्री श्री यशःकर्णदेवः॥

कीर्ति को लता की उपमा बहुत से कवि देते हैं किन्तु उसे इस प्रकार पूर्णोपमा बहुत कम कवियों ने दी है—

"पुण्यामृतेत संसिक्ता शुद्धसत्वप्रवर्धिता।
यत्कीर्तिव्रततिः सर्वं व्याप ब्रह्माण्ड मण्डलम्॥

कवियों ने राजाओं की प्रशंसा करने में उनके वैरियों की बेचारी स्त्रियों को खूब ही रुलाया है। भूषण ने कहा है—

"आयो आयो सुनत ही शिव सरजा तुव नाम।
वैर नारि दृग जलन सों बूड़ि जात सब गाम॥

हमारे कलचुरि कवि पृथ्वीधर इससे भी आगे बढ़कर कहते हैं :—

"आपके द्वारा समस्त पृथ्वी विजय होने के डर से, आपके शत्रुओं की स्त्रियों ने अपने आंसुओं से डुबा कर पृथ्वी को छोटा करने का आयोजन किया। इसी से समुद्र बढ़ कर लहरों से अपनी सेवा करता है :—

"अस्मद्भर्तृ पराभवेन सकलां भंक्ते भुवं यामसौ।
तामेतान्तनवामहे तनुतराकारामितीवस्त्रियः।
तत्प्रत्यर्थि महीभुजां नयनजैर्बाष्पैं पयोधीन्व्यधुः।
स्फारान्तल महोर्मिभिः पुनरमी तं वर्धयाञ्चक्रिरे॥

इस अतिशयोक्ति की भी कुछ हद है :—

"कर्ण ने कर्ण मेरु इतना ऊँचा बनवाया कि नीचे पृथ्वी पर स्थित पृथ्वी भी स्वर्ग की बराबरी को पहुंच गई :—

पृथ्वी येन विधाय मेरु मतुलं
कल्पद्रुमेणार्थिनां
स्वर्गा दूर्ध्वमधः स्थिताऽपि विबुधा
धारेसमापादिता ॥

"राजाओं के अलंकार कीर्ति प्राप्ति करने वाले कर्ण ने अपने दान से प्रार्थियों की तृष्णा रूपी समुद्र को सोने से भर दिया:—

तेनाजनि महीपाजङ्कर्णः
स्वर्णेन कुर्वता ।
पूर्णं तृष्णार्णवानर्थि
सार्थानर्थितकीर्तिना ॥

इसका भाव तथा शब्द सौन्दर्य दोनों ही सुन्दर है ।

शिव को सिर की गंगा की तरङ्गों को देवता संदेह करते हैं कि ये कुमुद की मालाएँ हैं, चन्द्र की मालाएँ हैं, धर्म कर्म के अंकुर हैं, सर्प की कञ्चुकियाँ हैं अथवा विभूति का उद्गम है । यह संदेहालंकार का उत्तम उदाहरण है:—

किं मालाः कुमुदस्य किं शशिकलाः
किन्धर्म्यं कर्माङ्कुराः ।

किंवा कञ्चुकिकञ्चुकाः भूल्युद्गमाः भान्त्यमी
इत्थन्नाकिवितर्किताः शिवशिरःपङ्क्तिनाकापगाः
रिङ्खल्गु तरङ्गभङ्गितलयः पुण्यप्रपाः पान्तु वः ॥

इन्दु-प्रभा, हार-गुच्छ तथा चन्दन को निन्दित करने वाली कीर्ति भी राजा के दूर चले पर वियोगिनी सरीखी हो जाती है :—

इन्दु प्रभां निन्दति हारगुच्छं
जुगुप्सते चन्दनमाक्षिपन्ती ।
यत्र प्रभौ दूरतरं प्रयाते
वियोगिनीऽव प्रतिभाति कीर्तिः ॥

नीचे लिखे श्लोक में यमक और अनुप्रासों की छटा देखते ही बनती है:—

द्युति जितहरितालः श्रीलताकल्पशालः
पृथुतरगुणमालः शत्रुवर्गैककालः ।
विमलितरणभालः कान्तकान्त्या शटालः
शिततरकरवालः सोऽभवद्भूमिपालः ॥

'अर्थात् उसने अपनी शोभा से हरिताल को जीत लिया था। लक्ष्मी रूपी लता के लिये वह कल्पवृक्ष के समान था। उसकी गुणों की माला बड़ी विशाल थी। शत्रुओं के लिये भी वह

काल के समान था। उसने रण के ललाट को विमल किया था। सुन्दर कीर्ति के द्वारा वह विख्यात था। उसकी तलवार बहुत चमकदार थी।- वह इस प्रकार का राजा था।

व्यक्तियों के साथ भावों की यह उत्प्रेक्षा तो देखिये:—

गया कर्ण ने अल्हण देवी से नरसिंह देव को जन्म दिया; मानो संवेदन ने इच्छा के द्वारा प्रयत्न को उत्पन्न किया:—

असावल्हणदेव्यां श्री नरसिंह नरेश्वरम्।
संवेदनमिवेच्छायां प्रयत्नं सुषवे सुतम्॥

समासों की छटा भी देखते बनती है:—

शौर्यविसज्जितनिरर्गलसैन्यसंघ
नम्रीकृताखिलमिलद्रिपुचक्रवालः।

(अ० उसने वीरता से सजी हुई बन्धन हीन सेना के द्वारा सब रिपुओं के मण्डल को नम्र कर डाला था।)

तस्मादजायत समस्तजनाभिवन्द्य
सौंदर्यशौर्यभरभङ्गुरिताहितश्रीः।

(भ० उससे सब जनों का बन्दनीय, सुन्दरता और शूरता द्वारा शत्रुओं की लक्ष्मी को भंग करने वाला पुत्र उत्पन्न हुआ।)

शृंगारिणी श्यामलदेव्युदार
चरित्रचिन्तामणिरर्चितश्रीः।

(अ० श्यामल देवी ने अपने चरित्र रूपी चिंता मणि से लक्ष्मी
की पूजा की)

तस्याभवत्तनुभवः प्रणमत्समस्त
सामंतशेखरशिरोमणिरञ्जितांह्रिः ।

(भ० उसके पुत्र के चरण सारे समान्तों श्रेष्ठ में राजाओं की
शरोमणियों से पूजित थे ।)

अन्त में हम यही कहना चाहते हैं कि इन कवियों कोमल कान्त-पदावली तथा प्रेम पूर्ण मनोज्ञ कविता से त्रैलोक्य दीपित हो रहा है :—

कोमल कान्तिसटाले
नोच्चैः स्नेहातिभारभरितेन ।
दीर्घमनोज्ञदशेन
त्रिभुवनं दीपायितं येन ॥

१७

गोंड़ राजवंश
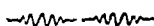
ई० सन् १२०० के लगभग त्रिपुरी का कलचुरि वंश लुप्त हो गया और उसके स्थान में गोंड़ वंश का उदय हुआ। इनका आदि पुरुष जादोराय (या यदुराय) माना जाता है। रामनगर के शिलालेख में भी वंश परम्परा यदुराय से ही प्रारम्भ की गई है। इस व्यक्ति के विषय में अनेक किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं किंतु इसके कुल-शील के विषय में कोई ऐसे प्रमाण नहीं हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से मान्य हों। इसके आने के स्थान के विषय में भी मतभेद हैं। निम्नलिखित किंवदन्तियों से पता चलेगा कि कोई कोई उसे गोदावरी तट से आने वाला मानते हैं और बघेलखण्ड से आया हुआ बतलाते हैं। स्लीमन साहिब

ने उसके प्रारम्भिक जीवन तथा राज्य प्राप्ति के विषय में एक सुन्दर और कल्पना पूर्ण कथा लिखी है। वह बड़ी मनोरंजक है—ऐसी जान पड़ती है जैसी कि "अलिफ लैला" की कोई कहानी हो। वह इस प्रकार है:—

गोदावरी के किनारे एक गाँव में एक छोटा सा पटैल रहता था। उसके लड़के का नाम यादवराय या जदुराय था। यह फौजी नौकरी करने का बहुत इच्छुक था। अतः बड़ा होने पर नौकरी की खोज में चला। भाग्य से इसे लांजी के हैहय राजा के यहाँ नौकरी मिल गई। वह काम में बड़ा मुस्तैद था अतः राजा इससे खुश रहते थे। एक वक्त उन्होंने तीर्थ यात्रा करने का निश्चय किया और अपने विश्वास पात्र नौकरों के साथ अमर-कण्टक को रवाना हुए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने नर्मदा तट पर अपना डेरा डाल दिया और अपने नौकरों को बारी बारी से पहरा देने की आज्ञा दी। एक दिन जब रात के समय यादवराय पहरा दे रहा था तब उसने गोंड़ जाति के दो पुरुष और एक स्त्री को अपने सामने से जाते देखा। उनके पीछे एक विशाल काय वन्दर भी था। वन्दर ने यदुराय की ओर देखा और कुछ मोर के पंख गिरा दिये। यदुराय यह सब हाल देखता रहा।

पहरा खतम होने पर यदुराय ने वे मोर के पंख इकट्ठे

किये और अपनी झोपड़ी में जाकर सो गया। स्वप्न में उसे नर्मदा जी ने दर्शन दिये और बतलाया कि उसे आज राम लक्ष्मण और सीता ने साक्षात् दर्शन दिये थे। उनके साथ महावीर (हनुमान) भी थे जिन्होंने कि मोर पंख गिराये थे। यह बड़ा अच्छा शकुन था। इसका यह अर्थ था कि यादव राय एक दिन राज्य प्राप्त करेगा और स्वयं राजा बनेगा। किन्तु ऐसी हालत में उसे सुरभी पाठक को मंत्री बनाना पड़ेगा।

यह स्वप्न देखने के उपरान्त यादव राय का हृदय प्रफुल्लित हो गया और दूसरे दिन प्रातःकाल ही उसने अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। अब वह सुरभी पाठक से मिलने के लिये एकदम रामनगर को रवाना हो गया और वहाँ पहुँच कर एकदम सुरभी पाठक से भेंट की। आश्चर्य इस बात का है कि सुरभी को भी नर्मदा जी ने ठीक वही सपना दिया था जो यादव राय को दिया था। दोनों एक दूसरे का वृत्तान्त सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। दोनों उसी समय नर्मदा जी को गये और जलधारा में खड़े होकर यादवराय ने प्रण किया कि राज्य मिलने पर वह सुरभी पाठक को अपना मंत्री बनावेगा। तदुपरान्त सुरभी पाठक ने यादव राय को सलाह दी कि वह गढ़ा के गोंड़ राजा के यहां जाकर नौकरी कर ले। यादव राय ने ऐसा ही किया।

गढ़ा के राजा के रत्नावली नाम की इकलौती पुत्री थी

जिसकी अवस्था विवाह के योग्य हो गई थी। राजा बूढ़ा हो गया था और उसे अब उम्मीद न थी कि कोई सन्तान होगी। अतः उसने योग्य वर ढूँढ़कर कन्या तथा राज्य उसे ही देने का निश्चय किया। पुरोहितों ने सलाह दी कि वर का चुनाव ईश्वरेच्छानुसार हो। इसके लिये यह निश्चय किया गया कि एक नियुक्त दिन प्रजा के बहुत से लोग जोड़े जावें और उनके बीच में एक नीलकण्ठ पक्षी छोड़ा जावे। जिसके सिर पर वह पक्षी बैठ जावे वही राज्य का अधिकारी हो। निदान ऐसा ही किया गया। भाग्यवशात् वह पक्षी सीधा उड़ता हुआ आया और यादवराय के सिर पर बैठ गया। यह राजा बना दिया गया और रत्नावली इसे विवाह दी गई।

ऐसा कहा जाता है रत्नावली गोंड़ वंश की होने के कारण यादवराय उससे विवाह नहीं करना चाहता था। अतः सुरभी पाठक ने उसे सलाह दी कि विवाह करने में कोई हानि नहीं; केवल रत्नावली के हाथ का भोजन ग्रहण न किया जावे। यादव-राव ने आजीवन ऐसा ही किया। साथ ही यह भी कहा है कि रत्नावली से कोई सन्तान नहीं हुई। इस कारण यादवराय को दूसरी शादी करनी पड़ी यह स्त्री क्षत्रिय-वंश की थी। इस स्त्री से यादवराय की संतति चली। सारांश यह कि यद्यपि यादव-राय को गोंड़ राज्य मिला तथा गोंड़ कन्या से विवाह करना पड़ा तो भी गढ़ा के गोंड़-वंश में शुद्ध राजपूतों का रक्त है।

यह कथा बहुत से लेखकों ने थोड़े बहुत हेर फेर से लिखी है। मालूम पड़ता है कि गोंड़ों ने अपने को राजपूत सिद्ध करने के लिये सत्य बात में बहुत कुछ जोड़ बाकी कर दिया है। जो कुछ भी हो कथा यह बतलाती है कि किस रहस्य मय रीति से गढ़ा के राज्य-कुल का उदय हुआ। इसके अतिरिक्त और भी कहानियाँ हैं जो गढ़ा के गोंड़-वंश के मूलपुरुप का नाम धारू साह बतलाती हैं और कहती हैं कि यह मनुष्य कन्या तथा नाग के संयोग से उत्पन्न हुआ था। किंतु ऐसी घटनाएँ प्रकृति-विरुद्ध होने से अविश्वसनीय हैं।

रामनगर के शिलालेख में यादवराय से लेकर हृदयशाह या हृदयेश्वर तक त्रेपन नाम गिनाये गये हैं। इनमें से बहुत से कल्पित हैं तथा बहुत से दूसरे राजवंशों से लेकर रख दिये गये हैं। यथा :— कर्ण, यशः कर्ण आदि कलचुरि महाराजाओं के प्रसिद्ध नाम हैं। ये रामनगर की वंशावली में क्रमशः छब्बीसवीं और तेईसवीं पीढ़ी में आते हैं। पृथ्वीराज और त्रिभुवनराय के नाम भी आये हैं। ये प्रसिद्ध चौहान तथा चन्देल-वंशों के प्रख्यात पुरुष थे। इसी प्रकार चौदहवीं पीढ़ी में सुरतानसिंह नाम आया है। हीरालाल साहिब लिखते हैं कि इस राजा का समय ८०० ई० के लगभग पड़ता है। उस समय भारत वर्ष में सुलतान शब्द का प्रचार ही नहीं हुआ था।
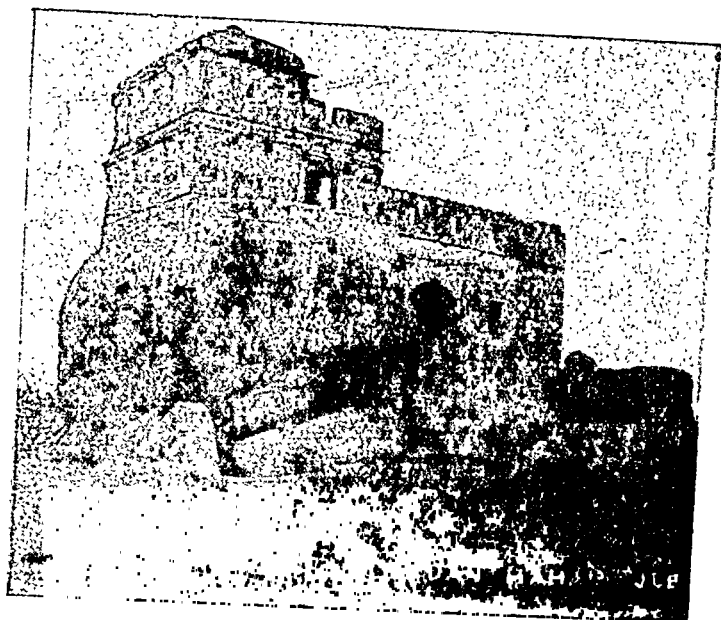
मदन महल

जीवन दे तुम को मदन शाह,
हो गये अमर वे गुण-निधान।
इन युगुल शिलाओं के ऊपर,
प्रकटे तुम ले सौन्दर्य-प्रान॥

—न० प्र० खरे।

वे लिखते हैं कि हिरदेशाह को खुश करने के लिये उनके ब्राह्मण पुरोहित ने एक लम्बी वंशावली बनादी जिसमें उसने इधर उधर से लेकर अनेक फर्जी नामजोड़ दिये। *

इस वंशावली में तेतीसवाँ नाम मदनसिंह नामक किसी व्यक्ति का है। इसके विषय में हम कुछ नहीं जानते। किन्तु गढ़ा के समीप एक पहाड़ी के शिखर पर जो प्रचीन 'मदन महल' नामक भवन बना है वह इसी मदनशाह का बनवाया हुआ बतलाया जाता है। यह महल दो अनगढ़ चट्टानों के ऊपर बिना किसी प्रकार को नींव डाले बना दिया गया है। नीचे के खण्ड में कोई कमरा नहीं है; केवल सीढ़ियाँ हैं और पहरे वालो के वैठने के लिये सकरी और छोटी कोठरी है। पर्वत शिखर से लगभग पचीस फुट ऊपर इसका मुख्य खंड आता है। यह भी बहुत बड़ा नहीं है। इसमें एक खुली छत दालान और छोटा सा कमरा है। इस कमरे में हवा आने औ दृश्य देखने के लिये बिना शलाकाओं की आले के समान खिड़कियाँ हैं। इस खण्ड के ऊपर एक संकीर्ण और खुली छत तथा एक छोटा सा कमरा है। इस में भी छोटी छोटी खिड़कियाँ हैं सब के ऊपर एक चपटी डाँट दी हुई छत है।

---

* मण्डलामयूख पृष्ठ १८

मकान में विशेष कारीगरी याने खुदाई या नक्काशी का काम नहीं है। पूरा मकान सीधे साधे पत्थर के टुकड़ों को काट कर बनाया गया है। चौखटें पत्थर को छीलकर बनादी गई हैं। इनमें कोई सफाई और कारीगरी नहीं हैं किन्तु सम्पूर्ण महल अपने आकार प्रकार तथा भिन्न भिन्न भागों के नाप तौल में उत्तम अनुपात होने के कारण दृष्टि को अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होता है। इस की बनावट अपने ढंग की निराली है। बनाने वाले ने आसपास के पार्वतीय वातावरण को ध्यान में रक्खा है। आसपास के शिला खण्डों और पहाड़ियों से महल के दृश्य में विकार उत्पन्न होने के बदले सौन्दर्य वृद्धि होती है। समतल मैदान में यह कोई विशेष सौन्दर्य की वस्तु न होती किंतु मदन महल की पहाड़ियों से इसका उत्तम सामञ्जस्य होने के कारण सोने में सुगन्धि उत्पन्न हो गई है।

मदनसिंह का समय स्लीमन् साहिब ने सन् १११६ लिखा है। यह उनने गोंड़ राजाओं के मंत्रियों से पूछ ताछ कर तथा खोज करने के उपरान्त निश्चित किया है। किंतु यह संदेहात्मक है। उक्त समय इस प्रदेश में कलचुरियों का राज्य था। जैसा कि बतलाया जा चुका है, बारहवीं सदी के अन्त तक उनके अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। अतः मदनशाह का समय बारहवीं शताब्दी में न होकर कलचुरियों के उपरान्त तेरहवीं सदी में होना चाहिये।

मदन शाह के पहिले वाले राजाओं के नाम तो बनावटी दीखते ही हैं किन्तु बाद वाले भी कुछ ऐसे ही हैं। मदन शाह के उपरान्त संग्रामशाह के समय तक जितने पुरुष आये हैं उनके विषय में सिवा नामों के हमें और कुछ नहीं मालूम।

स्लीमन साहिब ने रामनगर की वंशावली में दिये समस्त गोंड़ राजाओं के समय निश्चित किये हैं। तदनुसार यादव राय का समय सन् ३८२ ई० में आता है। कनिंघम साहिब समय निर्धारण में विक्रम संवत् के स्थान में कलचुरि संवत् का उपयोग करके यादव राय को सन् ६६४ में ले आते हैं। किंतु ये दोनों समय बहुत गलत हैं। उस प्राचीन काल में गोंड़ों का राज्य गढ़ा में हरगिज नहीं था। उसके अस्तित्व के प्रमाण तो हैं ही नहीं, उसके विरुद्ध दूसरे राजाओं के यहां होने के सबूत हैं जिनका कि उल्लेख पहिले किया जा चुका है। अतः यादवराय यदि गढ़ा का स्वतंत्र शासक रहा है तो उसे तेरहवीं शताब्दी में होना चाहिये। यह ठीक भी दीखता है क्योंकि मदनशाह और यादवराय के बीच के सभी नाम फर्जी माने जाते हैं।

मदनशाह के बाद संग्रामशाह तक एक रिक्त स्थानसा पड़ जाता है। संग्रामशाह के समय के शिलालेख मिलते हैं और मुसलमान इतिहासकारों ने उनका उल्लेख किया है। अतः उनके विषय में कुछ विशेष तथा निश्चित ज्ञान है।

संग्रामशाह

(सन् १४८० से १५४२ तक)

स्लीमन साहब ने संग्रामशाह का समय सन् १४८० से लेकर १५३० तक माना है। कनिंघम तथा दूसरे विद्वानों ने इसे मंजूर किया है।* यहाँ तक कि मध्यप्रान्त के प्रख्यात इतिहास अन्वेषक हीरालाल साहब तक ने इसमें सन्देह प्रकट नहीं किया। किन्तु इसमें कुछ भूल है। संग्रामशाह की मृत्यु काल सन् १५३० न होकर सन् १५४२ होना चाहिये। संग्रामशाह ने यदि पचास साल राज्य किया था तो उनके गद्दी पर बैठने का समय सन् १४६० होना चाहिये। यदि हम सन् १४८० को ही उनका राज्यारोहण काल मानते हैं तो फिर संग्रामशाह का राज्य पचास के स्थान में बासठ वर्ष मानना होगा। और यही ठीक समय है।

संग्रामशाह के गद्दी पर बैठने और मरने की तिथियों के विषय में कोई प्रचीन लेख नहीं मिलते। उन का समय वीर नारायण (दुर्गावती का पुत्र) की मृत्यु से लेखा जाता है। फिरिश्ता ने † आसफखाँ की चढ़ाई का समय सन् १५६४ दिया है।

---

* Cunninghamis Archialogical reports. Vol. XVII Page 52

† Ferishta, Briggis translation Vol. II Page 217.

वीरनारायण ने अपनी माता दुर्गावती के संरक्षण में केवल पंद्रह वर्ष राज्य किया था। उनके पिता दलपतशाह का राज्य भी केवल सात साल रहा था। अतः दलपत शाह वीरनारायण की मृत्यु के बारह साल पहिले अर्थात् १५४२ में गद्दी पर बैठे। यही समय संग्रामशाह का मृत्यु काल मानना चाहिये।

संग्रामशाह का असली नाम अमानदास या आम्हणदास देव था। दमोह जिले के ठर्रका नामक गाँव में एक सती चौरे पर इनका नाम तथा राज्य काल इस प्रकार उल्लिखित है:—श्री गढ़ गौरि विषय दुर्गे महराज श्री राजा आम्हणदास देवस्य राज्ये संवत्सरे १५७० समये इत्यादि। इसी स्थान पर संवत १५७० के शिलालेख में भी यही नाम दिया गया है।* गढ़ा में संवत् १५७० के बहुत से सिक्के मिले थे। उनमें इनका नाम 'संग्राम साहि' दिया हुआ है। इससे विदित होता है कि इनके दोनों नाम साथ साथ चलते थे।

मुसलमानी इतिहासकार लिखते हैं कि अमानदास को 'संग्रामशाह' की उपाधि सन् १५२६ में वीरसिंहदेव ने दी थी। अमानदास ने गुजरात के बहादुरशाह के विरुद्ध वीरसिंहदेव

---

* हीरालाल:—दमोह दीपक पृष्ठ ७८; Inscriptions in C. P. & Berar page 61.

की सहायता की थी जिसके फल स्वरूप यह उपाधि मिली थी। किंतु सचमुच में बात ऐसी नहीं है। "स्थानीय लेखों से पता चलता है उसने सं० १५४१ (सन् १४८४ ई०) में यह पदवी धारण की थी। जब उसकी सेना माड़ोगढ़ के सुलतान से हार गई और गढ़ा शत्रु के हाथ में गया तब इसने स्वयं जाकर केवल एक सहस्र सवारों की सहायता से शत्रु दल को छितर बितर कर सुलतान के निशान आदि छीन लिये।" * उपरोक्त अवतरण से 'संग्राम शाह' पदवी के अतिरिक्त संग्राम शाह के राज्य सिंहासन प्राप्त करने के समय का भी अनुमान होता है।

ऐसा कहा जाता है कि संग्राम शाह बालकपन में बहुत उपद्रवी और क्रूर थे। इनके माता पिता इनसे अप्रसन्न रहते थे। चाल चलन सुधारने के लिये इनके पिता ने इन्हें कुछ दण्ड दिया। अतः ये रुष्ट होकर बघेलखण्ड के राजा वीर सिंह देव के पास भाग गये † किंतु यह असम्भव दीखता है। श्री गोरेलाल जी तिवारी लिखते हैं कि वीरसिंह देवराजा मधुकरशाह के पुत्र थे। ये वि० सं १६६२ में अपने पिता की मृत्यु के उपराँत गद्दी पर बैठे। ‡ यह ठीक भी है क्योंकि

---

* जबलपुर ज्योति पृष्ठ २५,

† जबलपुर ज्योति पृष्ठ २३ बुन्देलखण्ड का इतिहास ९२

‡ बुँदेलखँण्ड का इतिहास, ८९

वीरसिंह देव अकबर के समाकालीन थे और इनने जहाँगीर के कहने से अबुलफजल को मार डाला था। पश्चात् ये जहाँगीर के दर्बार में रहे। सम्वत् १६८१ में इन्हों ने अपना तुलादान करवाया था *। संग्राम शाह का राज्य रोहण काल सन् १४८० (संवत १५३७) माना जाता है। उनकी मृत्यु भी सन् १५४२ (संवत् १५६६ में) हो गई थी। अतः संग्रामशाह की मृत्यु और वीर सिंह देव के राज्यभिषेक की तिथियों में त्रेसठ वर्ष का अंतर पड़ता है। कथा के अनुसार संग्रामशाह अपने पिता के जीवन काल में (अपने राज्यभिषेक के पूर्व) अर्थात् संवत् १५३७ के पूर्व बघेल खण्ड से राजा वीरसिंह देव के पास गये थे। अतः उक्त घटना और वींरसिंह देव के समय में सवा सौ वर्ष से ऊपर अन्तर पड़ता है। इसलिये यह कथा केवल कपोल कल्पित है। आश्चर्य इस बात का है कि राय बहादुर हीरा लाल साहिब ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया। "बुंदेलखण्ड का इतिहास" के लेखक संग्रामशाह के समय के ऊपर खूब विचार करते हैं और वीरसिंह देव का समय भी सतर्कता पूर्वक देते हैं किन्तु सवासौ वर्ष के समय का अन्तर न जाने कैसे भूल जाते हैं। इस ओर विद्वान् ध्यान देवें।

---

* बुँदेलखण्ड का इतिहास पृष्ठ १४०

संग्रामशाह के बाल्यकाल की कथा उनके वीरसिंहदेव के पास जाने से ही समाप्त नहीं हो जाती। आगे चलकर कहा जाता है कि उन्होंने बघेलखण्ड से लौटने पर अपने पिता की हत्या कर डाली और स्वयं गद्दी पर बैठ गये। इस कारण वीरसिंहदेव ने कुपित होकर संग्रामशाह को दण्ड देने के लिये गढ़ा पर चढ़ाई की। * संग्रामशाह ने वीरसिंहदेव से युद्ध न करके उनको आत्म समर्पण कर दिया और क्षमा प्राप्त कर ली। †

यह सम्पूर्ण कहानी बिलकुल झूठ है जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। वीरसिंहदेव और संग्रामशाह का समय एक नहीं है। अतः वीरसिंहदेव की चढ़ाई की कहानी उसी प्रकार झूठ है जिस प्रकार कि वीरसिंहदेव की शरण लेने की। व्यर्थ ही संग्रामशाह सरीखे अत्यन्त पराक्रमी और महान् व्यक्ति पर पितृ-वध का दोष लगाया गया है। रामनगर के शिलालेख में इस घटना का बिलकुल उल्लेख नहीं है। उसमें संग्रामशाह की बहुत प्रशंसा की गई है। कहा गया है कि :—

---

* बुन्देलखंड के इतिहास में चढ़ाई करने वाले का नाम 'बघेलराजा रामचन्द्र' बतलाया है। पृष्ठ ६६

† जबलपुर ज्योति पृष्ठ २३

"संग्रामशाह अर्जुनसिंह के पुत्र थे। जिस प्रकार रुई का ढेर प्रलयाग्नि से विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार शत्रुगण इनके तेज से नष्ट हो जाते थे। मध्याह्न का सूर्य भी इनके प्रताप के आगे चिनगारी के समान प्रतीत होता था। इन्होंने इस सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने का निश्चय किया था। तदनुसार बावन गढ़ों को नष्ट कर डाला। ये किले उच्च पर्वत श्रेणियों पर स्थित थे और विशाल प्राचीरों और बुर्जों से परिवेष्ठित होने के कारण दुर्भेद्य समझे जाते थे ....।"

इस वर्णन में संग्रामशाह के विषय में जो शब्द लिखे हैं वे अत्यन्त उपयुक्त और उचित हैं। सचमुच उनका प्रताप ऐसा ही था। उन्हें अपने पिता से केवल तीन अथवा चार गढ़ प्राप्त हुए थे। उन्होंने एक एक कर के बावन गढ़ जीते और उनपर अपना अधिकार कर लिया। इन किलों के नाम और स्थानों की फेहरिस्त स्लीमन साहिब ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ् गढ़ा मण्डला' में दी है। उनका कहना है कि अबुल फजुल के अनुसार इन बावन गढ़ों में सब मिलाकर अस्सी हजार गाँव होना चाहिये। किंतु यथार्थ में कुल ग्राम संख्या ३५६८० है।*

* इन किलों का वर्णन इस प्रकार है:—

वज्रप्रायैः पर्वत प्रौढ़ गाढ़ैः सुप्रकारैरम्बुभिश्चाश्रयाणि।
द्वापञ्चाशद्येन दुर्गाणि राज्ञां निर्वृत्तानि क्षोणि चक्रं विजित्य॥

Cunninghams: Archialogical report Vol XVII Page 48

संग्रामशाह को इतना राज्य विस्तार करने की शक्ति कैसे प्राप्त हुई इस विषय में भी कथाएं हैं। सम्भवतः इन्होंने अपने राज्य विस्तार के लिये अश्वमेध के घोड़े के समान घोड़ा छोड़ा था। जहां जहां वह गया, उसके पीछे सेना लेकर वे भी गये और किलों को जीता। राज्य जीतने का यह मार्ग दैवी शक्ति से प्राप्त हुआ था। उसकी कथा नीचे लिखी जाती है। जिस बाजना-मठ का इस कहानी में वर्णन है वह आज तक विद्यमान है। उसका स्थान और भीतरी प्रदेश अवश्य कुछ भय संचारक है।

संग्राम शाह भैरव के अनन्य उपासक थे उनकी स्थापना के लिये संग्राम सागर के किनारे पर उन्होंने बाजना मठ नामके एक मन्दिर बनवाया। इस में एक सन्यासी आकर रहने लगा और महाराज संग्राम शाह से उसने घनिष्टता बढ़ा ली। इतना ही नहीं उन्हें विश्वास दिला दिया कि यदि वे भैरव की विधि पूर्वक पूजा करेंगे तो उहें मुंह मागा वर मिलेगा। संग्राम शाह ने यह स्वीकार किया। एक रात्रि पूजन के लिये निश्चित हुई। यह तय किया गया कि उस रात्रि को केवल उस सन्यासी और राजा को छोड़ कर कोई अन्य व्यक्ति मन्दिर अथवा निकट उपस्थित न हो। निश्चित समय जब संग्रामशाह पूजन के लिये चलने लगे तब एक नौकर ने उनके साथ चलने का आग्रह किया और कहा कि कोई षड़यंत्र की सम्भावना है। संग्राम शाह को भी शंका हुई। अतः उन्होंने अपने कपड़ों में एक तलवार छिपा कर रख ली। मंदिर में पहुंच कर

पूजन आरम्भ किया गया। अंत में संन्यासी ने कहा कि राजन् आप होम-कुण्ड के चारों ओर तीन बार परिक्रमा करके प्रणाम कीजिये। उस अग्नि के ऊपर खौलते हुए तेल का एक कड़ाह चढ़ा हुआ था। राजा की शंका और भी बढ़ी। उसने तांत्रिक सन्यासी की ओर देखा तो उसकी दृष्टि से कुछ क्रूरता सी झलकी; साथ ही साथ उसके कपड़ों में छिपी एक तलवार दिखी। अतः संग्राम शाह ने उससे कहा कि महाराज ऐसे अवसर पर प्रत्येक कार्य बहुत सावधानी पूर्वक होना चाहिये। आप कृपया मुझे बतला दें कि मैं किस प्रकार प्रदक्षिणा और प्रणाम करूँ। तांत्रिक ने बतलाने के लिये कुण्ड की परिक्रमा की और राजा से भी यही करने को कहा। राजाने उससे कहा कि आप साष्टांग प्रणाम करके और बतला दीजिये। ज्योंहीं तांत्रिक यह करने को झुका त्योंही संग्राम शाह ने तलवार के एकही वार में उसका सिर धड़से जुदा कर दिया। रक्त का फव्वारा छूट पड़ा और भैरव की मूर्ति उससे तर होगई। एकाएक मूर्ति में प्राण आगये और उसने राजा से कहा कि वर मांग। राजा ने कहा कि जिस प्रकार आपने इस तांत्रिक के ऊपर मुझे विजय दी है उसी प्रकार मेरे शत्रुओं के ऊपर विजय प्रदान कीजिये। भैरव ने उससे कहा कि ऐसा ही होगा किंतु उसे भगवां झण्डा फहराना चाहिये और अपने अस्त-बल से एक सर्वांग काला घोड़ा छोड़ना चाहिये। जहाँ जहाँ यह घोड़ा जावे उसके पीछे पीछे राजा को अपनी सेना लेकर जाना

चाहिये। राजा ने ऐसा ही किया और बावन गढ़ जीत लिये।

ये बावन गढ़ संग्रामशाह के राज्य के बावन जिले थे। यह राज्य जबलपुर, सागर, दमोह, मण्डला, नरसिंहपुर, होशंगाबाद. नागपुर, सिवनी, छिंदवाड़ा, भोपाल और मालवा तक फैला हुआ था। जबलपुर जिले में गढ़ा, पचेल, कनौजा, पाटन और बरगी गढ़ थे। मारूगढ़, परतापगढ़, अमरगढ़, देवहार तथा रामगढ़, मण्डला तथा उसके आसपास के प्रान्त में विद्यमान थे। सागर जिले में धामौनी, गढ़ाकोटा, शाहगढ़, गढ़पहरा, रेहली इटावा, खिमलासा. राहतगढ़, देवरी और गौरझामर नामक संग्रामशाह के गढ़ थे। दमोह में सिंगौरगढ़, हटा, मड़ियादो तथा खास दमोह गढ़ विद्यमान थे। होशंगाबाद जिले में फतेहपुर था। सिवनी के घुनसौर और अमोदा नामक गाँव संग्रामशाह के गढ़ों में गिनाये जाते हैं। नागपुर का डोंगरताल नामक स्थान और छिंदवाड़े का चौराई भी गोंड़ों के गढ़ थे। इतना ही नहीं; खास भोपाल और उस रियासत के गनौर, बाड़ी और चौकीगढ़ गोंड़ों के आधीन थे। बुन्देलखण्ड की सीमा पर स्थित शाहनगर भी संग्राम शाह का गढ़ था। मालवा में कुरवाई और रायसीन थे। इनके अतिरिक्त टीपगढ़, करवागढ़, झंझनगढ़, लांकागढ़, साँतागढ़, दियागढ़ और बंकागढ़, इतनों के स्थान अनिश्चित हैं। बगसार, रामगढ़, मकरही, कारोबाग, भँवरगढ़ आजकल ऊजड़ हैं।

इनमें से कुछ किले केवल नाम मात्र को संग्रामशाह के अधिकार में थे। उन पर केवल आक्रमण ही किया गया था। उदाहरणार्थ कुरवाई, राहतगढ़, और रामसीन किले असल में मालवा के मुसलमान राजाओं के हाथ में थे। बावर ने लिखा है कि सन् १५२७-२८ में रायसीन सलाहुद्दीन नाम के एक काफिर के हाथ में था। इसके कुछ दिन बाद शेरशाह के आक्रमण के समय में रायसीन और चन्देरी का राज्य वहाँ के नाबालिग राजा प्रताप की ओर से पूरनमल सम्हाल रहा था* इससे पता चलता है कि इन गढ़ों पर या तो संग्रामशाह का राज्य रहा ही नहीं और यदि रहा है तो बहुत अस्थायी। नर्मदा के उत्तर के दूसरे प्रदेशों के विषय में विवाद नहीं है।

गढ़ा-मण्डला के गोंड़ राज-वंश में संग्रामशाह सबसे बड़े शासक थे। इन्होंने एक छोटी जागीर को विस्तृत करके साम्राज्य बना दिया। उनके बावन गढ़ उनके अतुल बल, वैभव और रण-कौशल के परिचायक हैं। इनके लिये इन्हें बावन युद्ध और सैकड़ों लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं। मनुष्य एक लड़ाई जीत कर वीर कहलाने लगता है, तब फिर जिसने सैकड़ों

---

* Cunningham's Reports Vol. XVII pages 53—54 and Briggs :—Hist. of the Rise of Muhammadan Power Vol II page 60

युद्ध जीते हों वह अवश्य ही महावीर कहलाने का अधिकारी है। उनके साहस और रण-कौशल की कहानियाँ बतलाई ही जा चुकी हैं। उन्हेंने गढ़ा का राज्य खो जाने पर भी हिम्मत नहीं हारी। सारी सेना नष्ट हो जाने पर भी केवल एक हजार सिपाहियों को लेकर माड़ोगढ़ के सुलतान पर जिस साहस से हमला किया और उसे हरा कर भगा दिया वह सचमुच में सराहनीय है। हारने के उपरान्त बहुधा सेनापति हतोत्साह हो जाते हैं किंतु यह बात संग्रामशाह में नहीं थी; इसी लिये उन्हें संग्रामशाह नाम दिया गया। वे अपने समकालीन तथा नाम-राशि चित्तौड़ाधिपति महाराणा संग्रामसिंह से बल, साहस और कौशल में किसी प्रकार कम नहीं थे। जिस प्रकार का स्वातंत्र्य-प्रेम महाराणा में था वैसा ही संग्रामशाह में था। दोनों विदेशियों के कट्टर शत्रु थे। वे राजपूतों में शिरोमणि थे; ये राजगोंड़ों के भूषण थे। उन्होंने बाबर से टक्कर ली इन्होंने बहादुरशाह और माड़ौ के सुलतान को हराया। उन्हें देवी का वरदान था इन पर भैरव की कृपा थी। अन्तर केवल इतना था, कि संग्रामसिंह उम्र में बड़े थे और ये छोटे।

संग्रामशाह केवल युद्ध करना और किले जीतना ही नहीं जानते थे। वे उनका समुचित प्रबंध भी कर सकते थे। समस्त राज्य चार विभागों में बाँटा गया था। उत्तर के प्रान्त

की राजधानी सिंगौरगढ़ थी, दक्षिण पूर्व की मण्डला, पश्चिम की चौरागढ़ तथा मध्य की गढ़ा। गढ़ा समस्त राज्य का केंद्र था। यहीं से सब प्रान्तों का शासन होता था।

प्रत्येक प्रान्त गढ़ों में बँटा था। ये गढ़ अपने अन्तर्गत आने वाले गाँवों की संख्या के अनुसार भिन्न-भिन्न विभागों में बँटे थे। बड़े गढ़ में साढ़े सात सौ गाँव रहते थे और छोटे गढ़ों में केवल साढ़े तीन सौ। कुछ गढ़ ऐसे भी थे जिनमें से प्रत्येक में तीन सौ साठ गाँव रहते थे। अमोदा नाम का गढ़ सबसे बड़ा था। इसमें सात सौ साठ मौजे थे।

प्रत्येक गढ़ एक एक गढ़ाधीश अथवा किलेदार के जिम्मे रहता था। यही व्यक्ति माल का अफसर भी होता था जो कि सरकारी कर की वसूली करके राजधानी गढ़ा को भेजता था। कर नकद अथवा उपज के रूपमें अदा किया जा सकता था। भूमि-कर बहुत भारी नहीं था। प्रजा इतनी सुखी थी कि लगान रुपयों में न देकर सोने की मुहरों और हाथियों में चुकाती थी।

संग्रामशाह जिस प्रकार गोंड़वंश के सबसे बड़े शासक थे उसी प्रकार बड़े भारी वास्तुकला-प्रेमी भी थे। इन्होंने बहुत से मन्दिर तालाब किले आदि बनवाये थे। जबलपुर के निकट

संग्राम-सागर प्रसिद्ध ही है। प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से यह अत्यन्त सुहावना है; तीन ओर पहाड़ियाँ हैं और चौथी ओर एक बड़ा भारी पत्थरों का बना हुआ कृत्रिम बाँध है। जल गंभीर तथा स्वच्छ है। इस तालाब के बीच में एक छोटासा द्वीप है। उस पर एक छोटासा, किन्तु सुन्दर महल बना हुआ है। आसपास चारों ओर दूर तक गहरा जल भरा हुआ है। इस महल में आसपास द्वार बने हुए हैं जिनसे तालाब तथा किनारे पर की हरी भरी पहाड़ियों का सुन्दर दृश्य बहुत मनोहर प्रतीत होता है। इसी महल के बीच में आम का एक बड़ा भारी वृक्ष है। लोग इस वृक्ष का संबंध उस महल के नाम 'आमखास' से जोड़ते हैं। किन्तु सम्भवतः यह नाम पहिले दीवाने खास था जो कि अब बिगड़ कर आमखास बन गया है।

संग्राम-सागर के ही पास भैरव का मंदिर बाजनामठ है। यह भी एक सुन्दर मन्दिर है। इन इमारतों के अतिरिक्त और बहुत से तालाब और मन्दिर संग्रामशाह और दुर्गावती के समय के माने जाते हैं। एक प्राचीन महल का खण्डहर गंगा सागर नामक बड़े तालाब के किनारे है। यह बहुत सुदृढ़ दीखता है और संग्रामशाह का बनवाया हुआ माना जाता है। संग्रामशाह ने मदनमहल की मरम्मत करवाई थी और उसी में रहते भी थे।

आमखास

संग्राम सागर के बीच में स्थित गुप्त मंत्रणागृह–

(१५ वीं शताब्दी)

संग्रामशाह के द्वारा सिंगोरगढ़ की मरम्मत किये जाने का उल्लेख किया ही जा चुका है * इसी के पास ही इनका बसाया हुआ "संग्रामपुर" आज भी मौजूद है। † इन्होंने चौरागढ़ का विशाल किला भी बनवाया था। यह नरसिंहपुर से बीस मील दक्षिण पूर्व में आठ सौ फुट ऊंची एक उच्च सम भूमि पर बना है। यह बहुत सुदृढ़ है। उत्तर, पश्चिमी तथा पूर्वी ओर की पहाड़ियां कई सौ फुट तक सीधी तराश दी गई हैं जिससे शत्रु न चढ़ सके। ऊपर कई तालाब बने हैं जिनमें पानी खूब भरा रहता है।

किले के एक तरफ की दीवाल बुन्देला कोट कही जाती है क्योंकि इसी ओर से बंदेलों ने हमला किया था। पश्चिम की ओर की पहाड़ी पर गोंड़ों के राजमहलों के खण्डहर अभी तक बाकी हैं। कई स्थानों में इनमें रंग भरा हुआ है जो कि आज तक बिलकुल ताजा सा मालूम होता है। किले की भीतरी दीवालें गिर गई हैं किंतु बाहरी दीवालें अभी तक अच्छी हालत में हैं। चौरागढ़ में गोंड़ों का खजाना रहता था। इस किले में दुर्गावती के समय के उपरान्त बड़ी बड़ी घटनाएँ हुई हैं जिन का वर्णन आगे किया जावेगा।

---

* C. P. Gazetteer (second edition) page 151

† जबलपुर दमोह सड़क पर सिंगरामपुर.

१३

महारानी दुर्गावती

(सन् १५४६ से १५६४ तक.)

संग्रामशाह की मृत्यु के उपरान्त उनके ज्येष्ठ पुत्र गद्दी पर बैठे। ये अत्यन्त सुन्दर युवक थे। उन दिनों चन्देल कन्या दुर्गावती के रूप-लावण्य की भी चारों ओर बड़ाई हो रही थी। दलपतशाह के मन में प्रवल इच्छा हुई कि वे दुर्गावती से विवाह करें। उनके पास सब साधन तथा गुण मौजूद थे। पिता विस्तृत राज्य छोड़ गये थे। सैन्यबल की बराबरी आस पास के राजा नहीं कर सकते थे। ईश्वर ने रूप भी भर पूर दिया था। किंतु दुर्भाग्य से वे गोंड़ कुल में उत्पन्न हुए थे और दुर्गावती प्रसिद्ध

रानी दुर्गावती

आसफ़खां से लड़कर तूने,
अमर बनाया कोशल देश।
अमर रहेगी रानी तू भी,
अमर रहे तेरे सन्देश॥

—न० प्र० खरे

चन्देलों के कुल में उत्पन्न हुई थी। कोई क्षत्रिय अपनी लड़की एक गोंड़ को देने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। ऐसा प्रस्ताव करना क्षत्रिय-कुल का सबसे बड़ा अपमान समझा जाता था जिसका बदला केवल तलवार ही से दिया जाता था।

यह सब जानते हुए भी दलपतशाह ने दुर्गावती को ब्याहने की अभिलाषा प्रकट की और चन्देलों से अपनी धृष्टता के लिये क्षमा मांगी। उनने यह भी बतलाना चाहा कि गढ़ा-मण्डला का राज-वंश गोंड़ घराना न होकर क्षत्रिय-कुल था क्यों कि यादवराय क्षत्रिय थे और उनकी स्त्री जिससे कि वंश चला था वह भी राजपूत-कन्या थी। किंतु अभिमानी चन्देलों ने एक न सुनी और दलपतशाह को कड़ा उत्तर दिया जिसमें अपमान-सूचक शब्दों की भी कमी नहीं थी। इतना ही नहीं; दलपतशाह को यह भी सूचना दी गई कि दुर्गावती का वर निश्चित किया जा चुका है जो कि एक उच्च वंशीय राजपूत कुमार है।

दलपतशाह को यह खबर वज्रघात सी लगी किन्तु इसी के साथ ही एक सुख का सन्देश भी मिला। दुर्गावती ने कहला भेजा कि उसके हृदय-पटल पर दलपतशाह की मूर्ति अंकित है और वह दलपतशाह से विवाह करने को उतनी ही लालायित

थी जितने कि वे थे। माता-पिता तथा कुटुम्बियों के विरोध के कारण साधारण रीति से विवाह करना असम्भव था। अतः जैसे कृष्ण ने रुक्मिणी को और पृथ्वीराज ने संयोगिता को विवाहा था वैसे ही दलपतशाह ने दुर्गावती से विवाह किया।

दलपतशाह जैसे वीर इस आह्वान को न टाल सके। दल-बल सहित गढ़ा से रवाना हुए और दुर्गावती के पिता राठ के महाराजा के यहां पहुंचे। राठ के चन्देलों की सहायता के लिये महोबे के राजा भी आये थे। इन दोनों के संगठित दल को दलपतशाह ने हराया और दुर्गावती को लेकर चले आये। उनके साथ विधि-पूर्वक विवाह किया और रहने लगे।

दलपतशाह को अपनी पैत्रिक राजधानी गढ़ा अधिक नहीं रुची। इसलिये उन्होंने वहां से अपना निवास स्थान हटा कर सिंगौरगढ़ में राजधानी बनायी। अभी तक सिंगौरगढ़ को यह गौरव प्राप्त नहीं हुआ था। इसलिये वहां पर राज-दम्पति के रहने योग्य महलों की कमी थी। दलपतशाह ने उस गढ़ का विस्तार किया और उसमें नये-नये महल उपवन तथा जलाशयों का निर्माण किया। इनके खण्डहर आज उस अतीत गौरव की सुधि दिलाते हैं।

दुर्गावती का जीवन तलवारों पर ही आरम्भ हुआ। संसार के इतिहास में दुर्गावती के समान वीरांगनाएं बहुत कम हुई हैं। सबके

विवाह बाजे-गाजे, के साथ होते हैं। दुर्गावती ने प्रियतम को रणवादन करते हुए युद्धार्थ आने का निमंत्रण दिया। अपने प्रेमी से मिलने की उत्कण्ठा के साथ-साथ उसमें सच्चा पौरुष, बल-वीर्य देखने की भी लालसा थी। दुर्गावती अपने माता-पिता तथा सजातियों की इच्छा-मात्र पर किसी भी व्यक्ति को आत्म-समर्पण कर देना अपनी आत्मा का हनन समझती थीं। साथ ही वे अपने चुने हुए वर के पास गुप्त रूप से चला जाना भी क्षत्रिय धर्म के विरुद्ध मानती थीं। सत्य और प्रेम की रक्षा के लिये वे अपने प्राण प्यारे को जीवन-संकट में डालने से नहीं घबराईं और युद्ध करके विवाहने का आह्वान किया।

तलवारों की झङ्कारों और रणभेरियों के बीच में जो सौभाग्य-शृंगार भरा गया था वह शान्तिमय वातावरण में अधिक दिन न टिक सका। वीर रमणी दुर्गा का जीवन कोमल शय्या के लिये नहीं रचा गया था।

विवाह के केवल चार वर्ष उपरान्त, अपने राज्य-काल की केवल सातवीं वर्ष में, दलपतशाह परलोक वासी हो गये और अपने प्रेम की स्मृति स्वरूप दुर्गावती की गोद में केवल तीन साल का एक पुत्र छोड़ गये। इसका नाम था वीर नारायण। यही दलपत शाह का उत्तराधिकारी और बावन गढ़ों का स्वामी हुआ।

माता का कर्त्तव्य है अपनी सन्तान की रक्षा करना। पत्नी का कर्त्तव्य है पति के प्रेम के आगे सब कुछ त्याग देना। प्रियतम चल बसे थे, किंतु प्रेम तो अमर है। इस अमर प्रेम की परिवर्द्धना करना, अपने पति की प्रीति और कीर्ति का पोषण करना, सब कुछ कष्ट सह कर भी उसके लिये सब कुछ त्याग देना और इन सब से अधिक उसकी धरोहर का संरक्षण करना दुर्गावती ने उचित समझा। ऐसे समय में उसने सती होना कायरता समझा, क्योंकि आने वाले विघ्नों के डर से ऐसा किया जाता है। समाज का बन्धन भी सर्वदा उचित और न्याय पूर्ण नहीं होता। दुर्गावती ने अपने विवाह के समय सामाजिक बंधन पर लात मार दी थी और औचित्य का आश्रय लिया था। पति-विछोह के समय भी ये सती नहीं हुईं और कर्मक्षेत्र में उतरने के लिये कटिबद्ध हो गईं। सचमुच बालक वीरनारायण का संरक्षण आवश्यक था।

इन्होंने अत्यन्त योग्यतापूर्वक पन्द्रह वर्ष तक राज्य-शासन चलाया। वे प्रजा के दुख निवारण के लिये सर्वदा तत्पर रहतीं थी। बाहरी शत्रु से रक्षा करने के लिये स्वयं हाथ में तलवार लेकर कवच पहन कर सेना के आगे अपने हाथी पर विराजमान होकर उपस्थित रहती थीं। इनके पास जो कोई भी न्यायार्थ आता था स्वयं उत्तम निर्णय देती थीं। दान-पुण्य तथा

दया के कारण ये अपने प्रजा वर्ग में बहुत प्रिय हो गई थीं। इनकी प्रशंसा में रामनगर के लेख में लिखा है कि :—

"दुर्गावती; याचकों की सौभाग्य-लक्ष्मी, सद्गुणों की मूर्ति के समान सुन्दरी तथा संसार की भलाई की सीमा थीं।

"अपने पति की मृत्यु के उपरान्त अपने तीन वर्षीय पुत्र वीरनारायण को राज सिंहासन पर आसीन कराया।

"अपने त्रैलोक्य विश्रुत यश तथा हिमालय के समान उत्तुंग स्वर्ण मन्दिरों के निर्माण द्वारा उन्होंने पृथ्वी का रूप परिवर्तन कर दिया। उनके राज्य में रत्न-खानियों के समान बहुमूल्य रत्न जहाँ-तहाँ फैले रहते थे तथा इन्द्र के समान अनेक मस्त मतंगज उनके द्वार पर झूला करते थे।

"अपने प्रजा जनों की रक्षा में वे सर्वदा निरत रहती थीं। अतः प्रत्येक युद्धों में हाथी पर बैठ कर सेना के आगे होकर लड़ती थीं तथा बलवान शत्रुओं को हराती थीं।

"सौभाग्य शाली वीरनारायण जब यौवन में प्रविष्ट हुए तब उनकी कीर्ति समस्त संसार में छागई। साथ ही साथ उनके राज्य की आय भी उसी परिमाण में बढ़ गई।" इत्यादि

दुर्गावती के समय में राज्य की समृद्धि इतनी बढ़गई थी कि लोग अपनी सरकारी जमा साधारण सिक्कों में न चुका

कर सोने की मुहरों और हाथियों में देते थे। दुर्गावती के पास एक बृहत्‌रत्न राशि के अतिरिक्त चौदह सौ मस्त हाथियों का झुण्ड था। भूमि और साधारण अन्न-धन की कमी नहीं थी। इस धन का विवरण आइने-अकबरी में अबुल फजल ने बारीकी से दिया है।

गढ़ा-मण्डला राज्य के इस वैभव का समाचार सुन कर कड़ा-मानिकपुर के सूबेदार आसफखाँ से न रहा गया। उसने दुर्गावती के सौन्दर्य तथा गुणों की चर्चा भी सुनी थी। अतः वह इस राज्य को जीतने तथा दुर्गावती को अपने जनानखाने में रखने के लोभ को न सम्हाल सका। इसके लिये उसने अकबर से आज्ञा माँगी। बादशाह ने आज्ञा देदी, किन्तु बिना किसी बहाने चढ़ाई कैसे की जाय? इसलिये बहाना ढूंढ़ना आवश्यक था।

जनश्रुति के अनुसार विदित होता है कि दुर्गावीती के पास एक अत्यन्त सुन्दर श्वेत रंग का हाथी था। इनके दीवान अधारसिंह कायस्थ भी बहुत चतुर थे। अकबर ने इन दोनों वस्तुओं की भेंट माँगी। उसने दुर्गावती के पास नीचे लिखा दोहा लिख भेजा :—

अपनी सीमा राज की, अमल करो परमान।
भेजो नाग सुपेत सोइ, अरु अधार दीवान॥

दुर्गावती ने लिख दिया कि मांगी हुई दोनों चीजों में से एक भी नहीं जा सकतीं। इस पर अकबर बहुत नाराज हुए और आसफखां को गढ़ा-मण्डला पर चढ़ाई करने की आज्ञा दे दी।

एक दूसरी किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि अकबर ने दुर्गावती के पास एक सोने का चर्खा भेजा। इसका आशय यह था कि स्त्रियों का कार्य चरखा चलाना है न कि राज्य करना। अतः तुम चरखा चलाओ और राज्य हमारे सुपुर्द करदो। इसके प्रत्युत्तर में दुर्गावती ने एक सोने का पीजन बनवाकर भेज दिया। इसका यह अर्थ था कि आप पिंजारे हैं। आपका काम रुई धुनकने का है न कि राज्य करने का। अतः आप भी अपना पेशा करो और राज्य छोड़ दो। इससे अकबर ने क्रुद्ध होकर गढ़ा-मण्डला पर चढ़ाई करने की आज्ञा दे दी।

उपरोक्त दोनों कहानियाँ केवल मनोरञ्जक ही नहीं हैं। वे यह भी बतलाती हैं कि उस समय अकबर किस प्रकार लड़ने के लिये बहाना ढूंढ़ा करता था। मुसलमान इतिहासकारों ने इस चढ़ाई का कारण केवल गढ़ा-मण्डला की समृद्धि ही बतलाई है। फरिश्ता इस चढ़ाई के वर्णन में लिखता है:— "जब आसफखां पांच हजारी मनसबदार बन गया और कड़ा-मानकपुर की सूबेदारी प्राप्त कर चुका, तब उसने गढ़ा नामक

देश पर चढ़ाई करने की आज्ञा मांगी । उस समय यह देश दुर्गावती नाम की एक रानी के द्वारा शसित था। यह रानी अपने सौन्दर्य और समृद्धि के लिये प्रख्यात थी । आसफखां हिरवी ने इस देश के ऐश्वर्य के विषय में सुना और छोटे छोटे कई हमले किये। अन्त में वह पांच हजार के करीब सवार और पैदल पल्टन लेकर गढ़ा की ओर चला। रानी ने पन्द्रह सौ हाथी, आठ हजार घुड़सवार तथा बहुत सी पैदल सेना लेकर उसका सामना किया। ऐसी परिस्थिति में एक अत्यन्त रक्तरंजित युद्ध हुआ । इसमें रानी हाथी पर से लड़ रही थी। एकाएक उसकी आँख में एक बाण आकर चुभ गया । इस कारण वह अपनी सेना संचालन के लिये आज्ञाएँ नहीं दे सकी। अब उसने शत्रु के हाथ में पड़ने के भय से अपने महावत के कमर-बन्द से कटार निकाल ली और अपने हृदय में मारकर मर गई। *

रामनगर के शिलालेख में इस घटना का वर्णन इस प्रकार दिया है :— 'कुछ समय के उपरान्त संसार के वैभव से सम्पन्न तथा अर्जुन के समान बलशाली अकबर ने एक बड़ा भारी सरदार भेजा। कुमार ने उसका अपमान किया।

---

* Ferishta—Briggs translation :—Vol. VI, pages 217-218.

'अतः युद्ध आरम्भ हुआ। इसमें वीरनारायण की सेना के भार से पृथ्वी डगमगा गई। अनेक वार (वीरनारायण) अपने शत्रुओं को अपने भयंकर प्रताप से हरा चुके थे, किंतु इस वार शत्रुओं के सहस्त्रों बाणों से विद्ध होकर इनका प्राणान्त हो गया। दुर्गावती अपने हाथी पर बैठी लड़ रही थी उसने अपने ही हाथ से एक कृपाण के द्वारा अपना शिरच्छेद कर लिया और मुक्ति को प्राप्त हुई।'

आसफखां की चढ़ाई और दुर्गावती के युद्ध का स्लीमन साहिब ने अपने गढ़ा-मण्डला के इतिहास में बहुत अच्छा वर्णन दिया है। इसी पर से बहुत से लेखकों ने दुर्गावती की कहानी लिखी है। हम हीरालाल साहिब का विवरण उद्धृत करते हैं:—

"आसिफखाँ सन १५६४ ई० में छः हजार सवार और १२ हजार पैदल सिपाही लेकर सिंगौरगढ़ पर चढ़ आया। दुर्गावती ने तुरन्त सामना किया, परन्तु उसकी सेना तैयार नहीं थी अतः शिक्षित सिपाहियों के सामने ठहर नहीं सकी। किले में घिर जाने के बदले रानी ने गढ़ा जाकर लड़ाई करने का विचार किया परन्तु शत्रु उसके पीछे हो लिये और उसे गढ़े में प्रबन्ध करने का मौका नहीं दिया।

"तब रानी ने मंडला की ओर कूच किया और बारह

मील चलकर घाटियों के बीच सकरी जगह पाकर वहाँ पर मोरचा जमाया और लड़ाई की। शत्रुओं के आक्रमण करते ही गोंड़ों ने ऐसी मार लगाई कि उनके पैर उखड़ गये। गोंड़ लोग केवल तीर, कमान, बरछी, तलवार से लड़ते थे। उनके पास तोपें नहीं थी। आसिफखाँ के पास तोपखाना था। घाटी की लड़ाई में वह वक्त पर नहीं पहुंच पाया था; इसलिये पहिले दिन उभय पक्ष से समान अस्त्रशस्त्र द्वारा युद्ध हुआ। दूसरे दिन रानी हाथी पर सवार होकर घाटी के मुँह पर लड़ने के लिये स्वयं उपस्थित हुई। उसकी सेना जी तोड़ लड़ने के लिये खड़ी थी। और इसमें शक नहीं कि उस दिन वह शत्रु को मटियामेट कर डालती, किंतु आसिफखाँ के भाग्य से ऐन वक्त पर तोपखाना आ पहुंचा। फिर क्या था, यहाँ से तोपों की मार वहाँ से तीरों की बौछार, भला विषम शस्त्रों से बराबरी क्यों कर हो सकती थी। तिस पर भी रानी तनिक भी नहीं डरी। अपने हाथी पर से बाण-वर्षा करती रही। इतने में एक तीर आकर उसकी आँख में लगा और जब उसने उसे खींचकर फेंक देना चाहा तो उसकी नोंक टूट कर आँख के भीतर ही रह गई। इतना बड़ा कष्ट होने पर भी उसने पीछे हटने से इन्कार किया। गोंड़ फौज के पीछे एक छोटी-सी नदी थी, वह युद्धारम्भ के पूर्व सूखी पड़ी थी, परन्तु लड़ाई शुरू होते ही में उसमें अकस्मात् इतना पूर आगया कि उसको

दुर्गावती की समाधि

विन्ध्यांचल की बलिदान-मूर्ति,
दुर्गा की अमिट निशानी।
व्याकुल-उर नभ देख रही है-
भर नयनों में पानी॥

—न० प्र० खरे।

हाथी भी पार नहीं कर सकता था। दोनों ओर से फौज का नाश दीखता था—आगे से तोपें, पीछे से जलप्रवाह—तथापि इस दृढ़ संकल्प नारी का मन बिलकुल न डुला। उसके महावत ने प्रार्थना की कि अगर हुक्म हो तो मैं किसी तरह हाथी को नदी के पार ले चलूं। परन्तु वीरा दुर्गावती दुर्गा ही थी। उसने उत्तर दिया, नहीं मैं या तो शत्रु को मार-भगाऊँगी या यहीं मर जाऊँगी। इतना कहते ही एक दूसरा बाण उनके गले में लगा। सेना में किसी ने यह खबर फैला दी कि कुमार वीरनारायण मारे गये। तोपों की मार, पानी की बाढ़, कुमार की मृत्यु और रानी की घायल अवस्था देखकर गोंड़ सेना अधीर होकर तितर-बितर होने लगी। शत्रुओं ने बढ़कर रानी को चारों ओर से घेर लेना चाहा। जब रानी ने देखा कि बचने की कोई आशा नहीं तब उसने अपने महावत से कटार छीन कर वीर-गति का अवलम्बन किया। बरेला के निकट जिस स्थान पर वह हाथी से गिरी वहाँ पर एक चबूतरा बना दिया गया है। जो कोई वहाँ से निकलता है श्वेत पत्थर उठा कर अर्घ्य रूप उस चबूतरे पर चढ़ा देता है, मानो उस वीर नारी की धवल कीर्ति का स्मरण कराता है। रानी दुर्गावती की समाधि से लेकर उस नदी के किनारे तक जिसमें कि एकाएक पूर आगया था, बहुतसी समाधियाँ मिलती हैं जिनसे कि अनुमान होता है कि उस युद्ध में बहुत मारकाट और प्राण हानि हुई थी।"

आसपास के गांवों के लोग अभी तक उस नदी को कोसते हैं। नदीमें एकाएक इतना भारी पूर आ जाने की घटना को लोग केवल दैवयोग मानते हैं। कुछ भी हो इस दुर्घटना के कारण गोंड़ राजवंश को अपना एक सबसे बड़ा रत्न खो देना पड़ा।

दुर्गावती के जीवन की उपरोक्त कहानी उन्हें अद्वितीय वीराङ्गना सिद्ध करती है। अपने विवाह से लेकर मृत्यु तक उन्होंने वीरव्रत का निर्वाह किया। किंतु केवल युद्ध और शासन में ही उनकी ख्याति नहीं थी। उन्होंने अपनी राजधानी तथा मुख्य नगरों में अनेक प्रजोपकारी कार्य किये। जबलपुर शहर के पास ही रानीताल नाम का एक बृहद् जलाशय इन्हीं का बनवाया हुआ है। यह लगभग आध मील लम्बा और इतना ही चौड़ा है। इसके किनारे कुछ मन्दिर भी बनवाये थे जिनके अब केवल भग्नाव-शेष दीखते हैं। बीच में एक द्वीप पर भी कुछ देवालयों के चिह्न मिलते हैं। इस तालाब के पास ही एक दूसरा तालाब इनकी एक दासी ने बनवाया था। यह चेरीताल कहलाता है। इनके मंत्री अधारसिंह कायस्थ ने एक दूसरा और बड़ा भारी तालाब बनवाया था। यह अधारताल के नाम से अभी तक विद्यमान है। इसके भी आसपास बहुत से भग्नावशेष हैं। पहाड़ियों के बीच में देवताल नाम का एक प्रसिद्ध और अत्यन्त सुन्दर तालाब है। यह भी दुर्गावती के ही समय का प्रतीत होता है। इनके

अतिरिक्त गढ़ा के आसपास बहुत से मन्दिर और तालाब मिलते हैं। इनमें से कुछ दुर्गावती के समय में गढ़ा निवासियों ने बनवाये थे, और बाकी दूसरे गोंड़ राजाओं ने बनवाये। गढ़ा के आसपास अगणित सती-स्मारक मिलते हैं। इनमें से बहुतसों में एक ही प्रकार के चिह्न हैं। इनके चबूतरों की बनावट तथा ईंटें और पत्थर भी एक-से हैं और दुर्गावती की समाधि तथा उसके आसपास की समाधियों से मिलते जुलते हैं। इससे प्रगट होता है कि उस समय में बहुतसी स्त्रियों को सती होना पड़ा था। यह आसफखां के युद्ध और अत्याचार के फलस्वरूप हुआ होगा। इनसे जन-हानि का कुछ अनुमान हो सकता है।

दुर्गावती के बनवाये हुए मन्दिरों में नर्मदा के किनारे के कुछ मन्दिर अभी अच्छी हालत में अवशिष्ट हैं। नरसिंहपुर के ब्रह्माणघाट पर दुर्गावती का एक मन्दिर उन्हीं के नाम से विख्यात है। यह गोंड़कालीन कला का द्योतक है। इसकी कुर्सी बहुत ऊँची है। मन्दिर तक पहुँचने के लिये लगभग चालीस-पचास सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। मन्दिर पर मुसलमानी ढंग की गुम्बज नहीं है किंतु सूची के आकार का शिखर है। गढ़ा में जो मन्दिर हैं उनमें से बहुतसों में गोल गुंबज है। संग्राम-शाह के बनवाये हुए बाजनामठ में शिखरदार किंतु स्तूप के आकार की चौड़ी गुंबज है। इससे प्रगट होता है कि गोंड़ों की

कला पर मुसलमानी कारीगर का बहुत प्रभाव पड़ा था। मण्डला में दुर्गावती के बनवाये हुए बहुत से महलों के खण्डहर हैं। यहां का किला भी उसी समय का है। इसका स्थान सुन्दर है किन्तु यह बहुत मजबूत नहीं मालूम पड़ता। इसके पास ही नर्मदा की गहरी धारा है। किले के समीप नर्मदा को पार करना बहुत कठिन है। इससे किले की शक्ति कुछ बढ़ जाती है।

इस सब विवरण से दुर्गावती की महानता का अनुमान किया जा सकता है। जिस युग में दुर्गावती हुईं थीं वह आजकल के समय से बहुत भिन्न था। उस समय में अच्छे-अच्छे शूरवीर पुरुषों की स्थिरता नष्ट हो जाती थी। छल बल का सब बातों में उपयोग किया जाता था। स्वार्थ और लिप्सा की तृप्ति के लिये कैसा भी अनिष्ठ किया जा सकता था। विदेशी सभ्यता ने लोगों को भीरु और अविश्वासनीय बना दिया था। ऐसे समय में एक स्त्री का लगातार पन्द्रह वर्ष तक सफलता-पूर्वक राज्य करना तथा आक्रमणों का सामना करना उनके व्यक्तित्व को अमित प्रशंसा और सद्गुणों का पात्र सिद्ध करता है। अकबर सरीखे कूटनीतिज्ञ बादशाह की चालों से बच जाना किसी साधारण स्त्री का काम नहीं था। वह दुर्गावती जैसी वीर रानी ही कर सकती थी, इसलिये लोग दुर्गावती को साक्षात् दुर्गा का अवतार मानते हैं।

१४

अन्तिम गोंड़ नरेश

सिंगौरगढ़ का जौहर
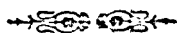
दुर्गावती ने जिस स्वतंत्रता की रक्षा के लिये अपना प्राणोत्सर्ग किया था, उसकी मृत्यु के उपरान्त उसे कोई नहीं बचा सका। आसफ खाँ ने गढ़ा जीतने के उपरान्त वीर नारायण की खोज की। पता लगा कि वह चौरागढ़ के किले में सुरक्षित है। इस किले में गोंड़ों की सम्पत्ति के भी छिपे होने की उसे सूचना दी गई। अतः वह शीघ्रातिशीघ्र चौरागढ़ को रवाना हुआ और वहाँ जाकर एकाएक किले पर हमला किया। गोंड़ो ने अत्यन्त साहस और वीरता पूर्वक रक्षा की। किंतु युद्ध

देश-द्रोहियों ने आसफखां को किले के मर्म स्थान बतला दिये और सिपाहियों को भीतर प्रविष्ट करा दिया। इससे समस्त राजपरिवार और भीतर की गोंड़ी सेना में हलचल मच गई। स्त्री तथा बाल-वर्ग को एकत्रित करके उन्हें अपनी दुरावस्था का ज्ञान कराया गया। स्त्रियों ने धर्म-रक्षा तथा सम्मान के लिये प्राणाहुति देना आवश्यक समझा और एक वृहत् चिता निर्माण करने की आज्ञा दी। एक बड़े राजमहल में बारूद की तह लगा कर उसमें लकड़ियां डाली गईं और उस पर किले की सब स्त्रियाँ अपने-अपने बच्चों को लेकर बैठ गईं। एकाएक जोर से धड़ाका हुआ और सम्पूर्ण महल आग की ज्वाला से धधक उठा। कुछ ही देर में सब स्त्रियाँ जलकर राख का ढेर हो गईं। रानी पद्मिनी की चिता के समान वह भी हमारे लिये गौरव की वस्तु है। जिस महल में जौहर किया गया था वह आज भी भग्नावस्था में विद्यमान है।

पुरुषों ने भी शत्रुओं को मारकर मर जाने का निश्चय किया। जितने गोंड़ वीर थे सब एकत्रित हो गये और बीच में अपने बाल-राजा वीरनारायण को कर लिया। वीरनारायण नरेला के समीप घायल हो चुके थे और उनकी अवस्था भी अठारह वर्ष से अधिक नहीं थी। तिस पर भी उन्होंने युद्ध से मुँह नहीं मोड़ा। किले के दरवाजे खोल दिये और गोंड़ वीर शत्रुओं पर टूट पड़े। घमासान युद्ध हुआ। इसमें वीरनारायण

वीर-गति को प्राप्त हुए। गोंड़ वंश का दीपक बुझ गया और आसफखाँ ने चौरागढ़ में प्रवेश किया।

उसे चौरागढ़ सुनसान और ऊजड़ मिला। वहाँ केवल दो स्त्रियाँ जीवित मिलीं। ये अभागिनी जौहर के समय बाहर थीं। इनमें से एक महारानी दुर्गावती की छोटी बहिन थी और दूसरी वीरनारायण की भावी पत्नी। दोनों को पकड़कर आसफ-खाँ ने दिल्ली भेज दिया। वे अकबर के जनानखाने में प्रविष्ट की गईं। चौरागढ़ में आसफखाँ को बहुत धन मिला जिसका कि जिक्र पहिले किया जा चुका है।

आसफखाँ

जो अटूट धन आसफखाँ को प्राप्त हुआ था उसमें से केवल बुड्ढे और दुबले पतले हाथी बादशाह अकबर के पास भेजे गये। बाकी की सब सम्पत्ति आसफखाँ ने अपने पास रख ली। गढ़ा-मण्डला के राज्य से आसफखाँ इतना प्रसन्न हो गया था कि उसने अपने कड़ा-मानिकपुर के सूबे को त्याग दिया और गढ़ा में ही अपना स्वतंत्र शासन करने लगा। यहां उसने अनेक प्रकार से उत्पात किये। हिंदुओं के मन्दिरों को गिराया और उन्हें कष्ट दिया। उस समय तक त्रिपुरी के भग्नावशेष काफी अच्छी हालत में थे। आसफखाँ के सिपाहियों

ने उन्हें गिरा डाला। भेड़ाघाट की चौंसठ जोगनियों की मूर्तियों को आसफखाँ के सिपाहियों ने ही खण्डित किया था।

अकबर ने उसे वश में करने के लिये गढ़ पर स्वयं आक्रमण करने का निश्चय किया और नरवर से गढ़ा की ओर चले। किंतु मार्ग में बुखार आ जाने से लौटकर आगरा जाना पड़ा। आसफखाँ के विरुद्ध कई सेनापति भेजे गये किंतु वे असफल हुए। अन्त में आसफखां ने अकबर से माफी माँगली। बादशाह ने उसे गढ़ा से हटाकर कड़ा-मानिकपुर की रक्षा के लिये भेज दिया। *

वीरनारायण के उपरान्त

सन् १५६४ ई० में चौरागढ़ का जोहर हुआ था। उसके उपरान्त लगभग तीन वर्ष तक यहां आसफखां का आधिपत्य रहा। फिर यहां पर दलपतशाह के भाई चन्द्रशाह का राज्य हुआ। गोंड़ सेना-पतियों ने इन्हें चुन लिया था और अकबर ने इनसे दस गढ़ लेकर फिर से गढ़ा का राज्य दे दिया। ये गढ़ भोपाल की ओर के थे जिनमें सागर का राहतगढ़ भी था। अतः गोंड़ों के पास केवल सागर, दमोह, जबलपुर, नरसिंहपुर, मण्डला इत्यादि विभाग शेष रह गये।

---

* Ferishta—Briggs translation 704 pages 217 to 225.

चन्द्रशाह अच्छे शासक थे और लोग इनके समय में सुखी थे। इनके पश्चात् अपने बड़े भाई को मारकर इनका दूसरा पुत्र मधुकरशाह राजा हुआ। बाद में आत्म-ग्लानि के कारण यह स्वयं एक खोखले पीपल में बैठकर आग लगवा कर मर गया। यह घटना सन् १५६० की है। मधुकरशाह दिल्ली दरबार भी गये थे।

मधुकरशाह के बाद इनके पुत्र प्रेमनारायण गद्दी पर बैठे। ये जहांगीर के कृपापात्र थे। जहांगीर को इन्होंने आठ हाथी भेंट किये थे जिसके बदले में जहांगीर ने इन्हें एकहज़ारी मनसबदार बनाया था।

जिस समय मधुकरशाह की मृत्यु हुई उस समय प्रेमनारायण दिल्ली में थे। वे जल्दी में एकदम स्वदेश को चले आये और महाराज वीरसिंहदेव से मिलने नहीं गये। इससे वीरसिंहदेव कुपित हो गये और मरने के समय अपने पुत्र जुझारसिंह से यह शपथ लिवाई कि वे प्रेमनारायण को अपनी धृष्टता का दण्ड देंगे।* जुझारसिंह ने चौरागढ़ के किले

---

* किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि गोंड़ों ने कुछ भाटों का अपमान कर दिया। उन्होंने गोंड़ राजा से अपना बदला लेने का निश्चय किया। वे बुन्देल-राजा जुझारसिंह के पास पहुंचे और उनसे कहा कि आप के रहते हुए गोंड़ लोग भाटों को तंग करते हैं, यह अनुचित है। वह छन्द जो भाटों ने जुझार को सुनाया था यह है:—

पर हमला किया। प्रेमनारायण युद्ध में मारे गये और चौरागढ़ बुन्देलों के हाथ में चला गया। कहते हैं कि जब जुझारसिंह प्रेमनारायण को जीतकर बुंदेलखण्ड लौट रहे थे तब ब्रह्मानघाट पर उन्होंने चौरागढ़ की ओर मुँह करके मूंछ पर हाथ फेरा और कहा कि हम प्रेमनारायण की मूंछ ले आये। इसी समय उनकी सब तोपें जो कि चौरागढ़ से लाये थे, अपनी गाड़ियों और बैलों समेत घाट पर से फिसल कर नर्मदा के प्रवाह में जा पड़ीं। लोग कहते हैं कि आजकल भी अमावास्या तथा पूर्णिमा को नर्मदा के जल में वे तोपें दीख पड़ती हैं और बैलों के रम्हाने की आवाज आती है!

कुछ लोगों का कथन है कि प्रेमनारायण की मृत्यु के उपरान्त शाहजहाँ ने जुझारसिंह को दण्ड दिया। इनसे

पड़ी हैं पिशाचन वश जोतत हैं आठो याम,
सुधहून लेत पापी तृण हू के खाने की॥
कान्ह जू की कामधेनु करतीं हैं विलाप रोय,
कपिला की जात कहूँ भाग नहीं जाने की॥
रोज उठ करत अरज भोर भानु जूसों,
फौज चढ़ आवै केशो राय के घराने की॥
बीरसिंह जू के वंश प्रबल पहाड़ सिंह,
तेरी बाट हेरती हैं गौएँ गोंड़वाने की॥

जबलपुर के गोंड़ राजमहल के भग्नावशेष
समय —१६ वीं सदी

चिर-मूर्छित-से हो आत्मलीन, काले मेघों-सम अति उदास।
तुम मौन तपस्वी-से सकरुण, निर्जन वन में कर रहे वास॥

—न० प्र० खरे।
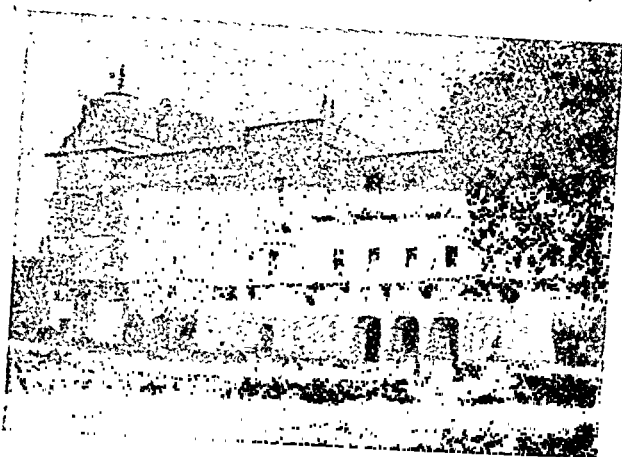
रामनगर (मण्डला) हृदयशाह द्वारा निर्मित
गोंड़ राजमहल (मोतीमहल)
समय—सत्रहवीं शताब्दी

चिर खण्डित-तन हे सौख्य-सदन ! बोलो बोलो पाषाण-भवन !!

—न० प्र० खरे।

शाहजहाँ ने अपने राज्य का एक भाग 'वुयावाँ' अपनी मदद के वदले में माँगा। इन्होंने इन्कार किया। अतः शाहजहाँ बादशाह ने इनसे चौरागढ़ छीन लिया। हृदयशाह को भाग कर मण्डला में आना पड़ा और वहाँ रामनगर में किला और महल बनवाये। रामनगर का मोतीमहल अभी तक विद्यमान है। अपनी प्राकृतिक शोभा और सौन्दर्य के लिये यह स्थान बहुत प्रसिद्ध है। मोती महल २१२ फुट लंबा और २०० फुट चौड़ा आयताकार भवन है। इसके भीतर १६७ फुट लम्बा और १५६ फुट चौड़ा आँगन है। इमारत में कोई खासियत नहीं है किंतु घने जंगलों के समीप नर्मदा के प्रभाव से ८० फुट ऊपर बना हुआ यह महल नर्मदा के दोनों तटों का सुन्दर दृश्य दिखलाता है। स्थान का चुनाव बतलता है कि हृदेयेश्वर कितना सौन्दर्य-प्रेमी था। *

मण्डला गजेटियर में इस महल का अच्छा वर्णन और प्रशंसा की गई है। इसी में हृदयेश्वर की प्रशस्ति का पत्थर लगा हुआ है। शिला-लेख खुदवाने वाला यही एकमात्र गोंड़ राजा था।

हृदयशाह के उपरान्त छत्रशाह, अपने पिता की मृत्यु का समाचार पाकर हृदयशाह दिल्ली से रवाना हुए और रास्ते

---

* Archialogical Reports Vol. XVII

में जुझारसिंह पर हमला कर उन्हें मार डाला। भोपाल के राजा ने भी उन्हें मदद दी। गढ़ा में आकर हृदयशाह ने अपने राज्य को फिर से सुधारा जो कि युद्धों के कारण तहस-नहस हो गया था। उसने कई बाग-बगीचे तथा तालाब बनवाये जिसमें से लखराम (लाख आमों का बगीचा) तथा गंगासागर प्रसिद्ध हैं। इनके बाद केसरीसिंह,नरिन्दशाह, महराजशाह, सूरजशाह, दुर्जनशाह, नरहरशाह, सुमेरशाह, और अन्तमें शंकरशाह नामक राजा हुए। इनके समय में कोई विशेष बातें नहीं हुई। शंकरशाह और उनके पुत्र (कोई २ भाई बतलाते हैं) रघुनाथशाह सन् १८५७ के गदर के उपरान्त अंग्रेजी सरकार द्वारा गोले द्वारा उड़ा दिये गये। इनका अपराध यह था कि इनके बटुए में एक विद्रोहात्मक कविता निकली थी। वह कविता यह थी :—

मूँद मुख डंडन को चुगलों को चबाइ खाइ,
खूँद डार दुष्टन को शत्रु न बिदारिया।
मार अंग्रेज रेज कर देउ मात चंडी,
बचै नहीं बैरी बाल बच्चन संघारका।

शंकर की रक्षा कर दास प्रतिपाल कर,
दीन की पुकार सुन जाय मात हालिका।
खायले मलेच्छन को देर नहीं करो मात,
भच्छन कर ततच्छन बेग शत्रुन को कालिका। *

---

* मण्डला मयूख पृष्ठ ५६.

बावन गढ़ों के पतन की कहानी

इसके बाद का इतिहास घरू झगड़ों और विश्वास-घात का इतिहास है। हृदयशाह के बाद उसका पुत्र छत्रशाह गद्दी पर बैठा जो केवल सात वर्ष राज्य कर पाया। उसका लड़का केसरीसिंह उसके बाद राजा हुआ किन्तु तीन साल ही राज्य करने के बाद अपने काका हरिसिंह के द्वारा मार डाला गया। लोगों ने उसके पुत्र नरेन्द्रशाह को राजा बनाया और फौज इकट्ठी कर हरिसिंह को युद्ध में मार डाला व उसके पुत्र पहारसिंह को भगा दिया जो कि औरंगजेब से जा मिला। बीजापुर की लड़ाई में मदद करने के कारण दिलेरखां ने उसे एक फौज देकर मण्डला पर चढ़ाई करने भेजा। फतेहपुर की लड़ाई में उसने नरिन्दशाह को हरा दिया किन्तु नरिन्दशाह ने सोहागपुर की लड़ाई में पहाड़सिंह को मार डाला। पहाड़सिंह के लड़के भी मारे गये और नरिन्दशाह राज करने लगा। घरू झगड़ों के कारण इसके दो जागीरदारों ने सिर उठा लिया किन्तु देवगढ़ के राजा बख्तबुलन्द की सहायता से खुलरी और सिवनी में दोनों को मार डाला। इस सहायता के बदले उसने बख्तबुलन्द को चौरई, डोंगरताल और घुन्सोर के किले तथा छत्रसाल को गढ़ पहरा, दमोह, रेहली, इटावा व खिमलासा गढ़ दे देना पड़े। दो जिले पहिले ही दिये जा चुके थे। दिल्ली के बादशाह को भी सागर के अन्य पांच किले दे देना पड़े।

नरिन्दशाह सन् १७३१ में मर गया और तब उसका पुत्र महाराजशाह गद्दी पर बैठा तब उसके पास ५२ गढ़ों मेंसे केवल २६ रह गये थे। इसके समय में पेशवा ने चौथ मांगना शुरू की और इन्कार करने पर मण्डला पर चढ़ाई की जिसमें महाराजशाह मारा गया उसके बड़े पुत्र सूरजशाह को बाजीराव पेशवा ने चार लाख चौथ देने की शर्त पर गद्दी पर बिठाया। नागपुर के भोंसलों ने अपने राज्य से चौथ लेने का विरोध किया जिसके लिये ६ गढ़ उन्हें दे दिये गये। अब केवल २३ बच रहे।

सूरजशाह के सन् १७४६ में मृत्यु होने के बाद उसका पुत्र दुर्जनशाह गद्दी पर बैठा जो कि "यथा नामा तथा गुणा" था। उसकी क्रूरता के कृत्यों से दुखी होकर उसके काका निजामशाह ने उसे निकालने के लिये उसकी सौतेली मां से मिल कर षड़यंत्र रचा। दुर्जनशाह किसी राज-काज के लिये बाहर भेज दिया गया वह किसी कल्पित अपराध की माफी मांगने के बहाने बुलाया गया और विश्वासघात के साथ मार डाला गया। निजामशाह राजा बन बैठा किन्तु पेशवा को सन्तुष्ट करने के लिये उसे पनागर, देवरी और गौरझामर के किले दे देना पड़े। निजामशाह ने कृषि की उन्नति के लिये बहुत कुछ काम किये और २७ वर्ष राज्य कर सन् १७७६ में मर गया। उसके पुत्र महिपालसिंह का राजत्व पेशवा ने स्वीकार किया किन्तु दुर्जन-शाह की सोतेली माँ ने इसका विरोध किया और नरहरशाह

को गद्दी पर बिठाया। निजामशाह के पुत्र सुमेरशाह ने नागपुर के भोंसले ऊधोजी को मदद के लिये बुलाया। रानी ने उसे ७० हज़ार का वचन देकर वापिस किया किन्तु नरहरशाह ने इसे न माना और सुमेरशाह ने सागर के राजा की मदद से नरहर शाह को निकाल दिया और रानी को मरवा डाला। सागर वालों ने इसी बहाने पर सुमेरशाह पर भी चढ़ाई करदी। उसने नरहरशाह से संधि की बात चलाई और वह क्षमा दान कर गढ़ा बुलाया गया किन्तु तिलवाराघाट पर ही बंदी।कर सागर भेज दिया गया। जब नरहरशाह ने देखा कि वह नाममात्र ही का राजा है तब उसने भी सागर के विरुद्ध बगावत की। अतः वह भी पकड़ कर खुरई में कैद कर लिया गया जहाँ कि वह १७८९ में मर गया।

सागर के पण्डितों का राज्य केवल १७ वर्ष रहा उन्हों ने जबलपुर का परकोटा बनवाया जिसका चिन्ह कमानिया फ़ाटक है। उसके बाद सन् १८१७ तक नागपुर के भोंसलों का राज्य रहा जिनसे कि १८१८ में अंग्रेजों ने लिया।

सन् १८४२ में सागर में बुन्देलों ने स्वतंत्रता की घोषणा की किन्तु वे दमन कर दिये गये। उसके बाद वह विभाग उत्तर पश्चिम सीमाप्रान्त में जोड़ दिया गया और १८६१ में मध्य-प्रान्त का अलग संगठन किया गया। १८५७ की गदर का यहाँ भी असर हुआ और कटंगी, गढ़ाकोटा, विजयराघवगढ़ तथा

बरगी की लड़ाइयों के बाद पूरी तौर से अंग्रेजी राज्य स्थापित हो गया और त्रिपुरी तथा गढ़ामण्डले का स्वाधीन सूर्य सदा के लिये अस्त हो गया। दशा वही हुई कि जैसी भूषण कवि ने शिवाजी के विजित राजधानियों के विषय में वर्णन की है यथा:-

तुरमती तहखाने तीतर गुसलखाने सूकर सिलह खाने—
कूकत करीस हैं।
हरिण हुरुमखाने सिंह हैं सुतुर खाने पीलखाने पांड़ी हैं
करिन्दखाने कीस हैं॥
भूषण शिवाजी गाजी खड्ग सों खपाये खल खलन के—
खाने २ खेरे भये खीस हैं।
खड़जी खजाने खरगोस खिलवत खाने खीस खोले—
खस खाने खांसत खबीस हैं॥

परन्तु बिहारी कवि के दोहे के अनुकूल त्रिपुरी के पुनरु-त्थान की आशा बलवती है :—

यहि आशा अटके रहे, अलि गुलाब के मूल।
ऐहै फेर बसन्त ऋतु, वे डारन वे फूल॥

ग्रंथ निर्देश

संस्कृत ग्रन्थ	लेखक
१. रघुवंश महाकाव्य	कालिदास
२. प्रबोध चंद्रोदय नाटक-	
३. बाल रामायण नाटक	राजशेखर
४. कर्पूर मंजरी	,,
५. विद्धशालभंजिका	,,
६. हैम नाम माला	
७ त्रिकाण्ड कोश	

टिकी ग्रन्थ

८. भारतीय इतिहास की रूपरेखा	जयचन्द्र विद्यालंकार
९. भारतभूमि और उसके निवासी	,,
१०. राजपूताने का इतिहास	म. म. गौ. ही. ओझा
११. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति	,,
१२. गुप्तवंश का इतिहास	प्रयागदत्त शुक्ल
१३. अशोक की धर्म लेख	जनार्दन भट्ट
१४. जबलपूर ज्योति	रा. ब. हीरालाल
१५. मण्डला मयूख	,,
१६. दमोह दीपक	,,
१७ बिलासपुर वैभव	,,
१८. नागरी प्रचारिणी पत्रिका	,,
१९. विशाल भारत	,,
२०. बुंदेलखंड का इतिहास	श्री गोरेलाल तिवारी
२१. कालिदास	पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी
२२. कालिदास (बंगला)	राजेन्द्रलाल मित्र
२३. कल्याण शिवाङ्क	
२४. अलबेरुनी का भारत	श्री सन्तराम

अंग्रेजी

25. Archaeological Survey of India Reports.
26. Epigraphica Indica. Vol. I II & VIII
27. Collected works of Sir, R. G. Bhandarker.
28. Inscriptions in C. P. & Berar By R. B. Hiralal.
29. History of Medaeval India Dr. Eshuari Pd.
30. " " " Lanepoole.
31. Jubbulpore district Gazetteer.
32. Mandla " "
33. Tripuri & their monuments by R. D. Banerji
34. Annals of Bhandarker Oriental Research Institute.
35. Early History of India by V. A. Smith.
36. Anciant History of India by Rapson.
37. Coins of India "
38. History of Gondwana by Bishop Chaterton.
39. Mohammadan rule in India (Brigg's translation of Ferishta.)
40. The Coins of India C. J. Brcwn.
41. History of Napal by Bandall.
42. Mohan-jo-daro and Indus Civilization by Sir, John Marshal.
43. Mahavansha Turner & Translation
44. Anciant Geography of India by Cunningham.